वेद-मन्थन

VED-MANTHAN

डॉ० मनुदेव बन्धु

व्याकरणाचार्य, एम०ए०, पी-एच० डी०

बन्धु ग्रन्थ माला का द्वितीय पुष्प

वेद-मन्थन
(VED MANTHAN)

लेखक :—

डॉ० मनुदेव बन्धु

एम०ए० (वेद, हिन्दी, संस्कृत), व्याकरणाचार्य

साहित्य रत्न, सिद्धान्तशिरोमणि, लब्धस्वर्णपदक, पी-एच० डी०

प्राध्यापक :—

गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

निवास :—बन्धु सदन

आर्यनगर-कनखल रोड़, निकट-आर्यवानप्रस्थाश्रम

पोस्ट-ज्वालापुर २४९४०७ (हरिद्वार)

प्रकाशक :—

हीरालाल आर्य

स्थान :—पथरगामा, पोस्ट-पथरगामा, जिला गोड्डा

भागलपुर (बिहार)

प्रकाशक :-

हीरालाल आर्य

ग्राम-पोस्ट-पथरगामा, जिला गोड्डा (बिहार)

VED MANTHAN : Dr. MANU DEV BANDHU

प्रथम संस्करण-११०० प्रतियाँ, मार्च १९८८

मूल्य—१० रुपये मात्र

पुस्तक प्राप्ति स्थान :-चन्द्रकान्ता बन्धु
बन्धु सदन, आर्यनगर, कनखल रोड
पोस्ट-ज्वालापुर-२४९४०७ (हरिद्वार)

वीरेन्द्र कुमार आर्य
पथरगामा, जिला गोड्डा (बिहार)

प्रियव्रत शास्त्री
दयानन्द वेद विद्यालय
११९ गौतम नगर, दिल्ली-४९

शर्मा प्रिण्टर्स, ज्वालापुर (हरिद्वार)

समर्पण

जिस माँ के तप-त्याग और बलिदान के फलस्वरूप मैं एक सुयोग्य मानव बना तथा उनकी शुभ प्रेरणाओं से इस पुस्तक के लेखन में सक्षम हुआ, जो असमय ही कराल-काल के गाल में समा गईं। आज भी मुझ निरन्तर मेरे कर्मों में प्रेरित करती रहती हैं, उसी माताजी (श्रीमती रामदुलारी जी) के चरणकमलों में यह तुच्छ कृति सादर समर्पित है।

त्वदीयं वस्तु हे मातः तुभ्यमेव समर्पये

समर्पयिता—आपका पुत्र

मनुदेव बन्धु (मुन्ना)

विषय-सूची

आत्म-कथन

मानव समाज जगत्-स्रष्टा की समस्त कृतियों में सर्वोत्तम कृति है। जगन्नियन्ता ने इसको कुछ ऐसे गुण दिये हैं जो मानवेतर प्राणी में नहीं पाये जाते। मानव को केवल परमात्मा ने बुद्धि दी है, जिसके बल पर वह समस्त संसार पर विजय प्राप्त कर सकता है। सत्-असत् वस्तुओं का परिज्ञान करके ही प्रयोग में ला सकता है। परोपकारिता, उदारता, सहिष्णुता, क्षमा-शीलता, धीरता और गम्भीरता आदि गुण मानव को ऊपर उठाते हैं। धर्म के दस लक्षण भी परमात्मा ने मानव के लिये ही बनाये हैं। उत्तम कर्म से उत्तम फल और अनुत्तम कर्म से अनुत्तम फल की व्यवस्था भी सृष्टिचालक ने की है। **"स्तुता मया वरदा वेदमाता"** का भी समुचित उपदेश दिया है।

वेद भारतीय संस्कृति एवं ज्ञान-विज्ञान के मूल स्रोत हैं। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में वेदों का स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण है। पुराकाल से भारतीय समाज का वैयक्तिक जीवन, सामाजिक व्यवस्था तथा राष्ट्रीय सङ्गठन श्रुति-भगवती की दृढ़ आधारशिला पर अवलम्बित रहा है। अतः भारतीय सभ्यता-संस्कृति के सम्पूर्ण पक्षों के परिज्ञान के लिये वेदों का अध्ययन-अध्यापन एवं चिन्तन-मनन नितान्त आवश्यक है। वेदों का शाश्वत् निभ्रान्त ज्ञान मानव मात्र की श्रद्धेय सरणी पर आरोहण का सुगम सोपान है, क्योंकि अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न मोक्ष से पुनरावर्त्तित तपः पूत ऋषियों को समाधि की उच्चस्तरीय स्थितियों में वेदों का ज्ञान अवतरित हुआ है।

हमने इस पुस्तक का नाम **"वेद-मन्थन"** रखा है। वेदों के वास्तविक अर्थ को सत्यापित करने का भरसक प्रयास किया है। वेदों में निहित विद्याओं को उद्घाटित करके जन साधारण को लाभान्वित करना ही मेरा परम लक्ष्य है। प्रस्तुत कृति से महर्षि दयानन्द की भाष्य शैली को समझने में सहायता मिलेगी।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधते सज्जनाः ॥

विद्वच्चरणसेवक—

मनुदेव बन्धु

*दयानन्द-वेदभाष्य : एक अध्ययन

दयानन्द का वेदभाष्य यास्क की मान्यताओं को स्वीकार करता है। देव-दृष्टि को समझाते हुए यास्क ने अपनी त्रिविध देवपरिकल्पना में तीन स्तरों की क्रमशः आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक रूप में जो कल्पना की हैं, उसे अग्नि, पर्जन्य, आदित्यादि के भेद से समझाते हुए वे अन्त में वैश्वानर के रूप में एक ही परमदेव स्वीकार करते हैं। अपने युग के अज्ञानान्धकार को देखते हुए ऋषि दयानन्द ने आध्यात्मिक दृष्टि से एक ही महादेव परमात्मा को स्वीकार किया और आध्यात्मिक अर्थ में अग्नि, इन्द्र आदि का अर्थ व्याकरण और निरुक्त के आधार पर परमात्मा की ही विविध शक्तियों के उद्घोषक के रूप में स्वीकार किया। अतः एकेश्वरवाद या महादेववाद को ही ऋषि की निष्ठा का आधारभूत सत्य कहा जा सकता है। निस्सन्देह यास्क की भान्ति व्याकररण के परम पण्डित होकर ही दयानन्द निरुक्त या निर्वचन पद्धति का आश्रय व्याकरण के प्रमुख अङ्ग रूप में मानकर ही बढ़ रहे थे।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि दयानन्द की वेदभाष्य में प्रवृत्ति क्यों हुई? जहाँ मध्ययुगीन ईश्वर भावना से दयानन्द विचलित थे और सच्चे ईश्वर के स्वरूप को जानने की उत्कण्ठा से व्यग्र थे, वहाँ उनके गुरु विरजानन्द अपनी प्रज्ञा से इस तथ्य को पाकर अत्यन्त खिन्न थे कि महान् वैयाकरण माधव एवं उनके परम वेदविद् भ्राता सायण, दोनों ने ही जिस वेदभाष्य को वेदों के पुनरुद्धार की भावना से पूर्ण किया, उसमें न तो व्याकरण की पूर्ण रक्षा हुई और न ही यास्क की आर्ष-पद्धति को पूर्णतः अपनाया गया। अतः उन्होंने ऋषि को जो दृष्टि दी, वह जहाँ ऋषि की मूल जिज्ञासा को शान्त करने वाली थी, वहाँ बुद्धयुग से लेकर मध्ययुग तक की परिव्याप्त ईश्वर सम्बन्धी अवैदिक एवं अनार्ष धारणओं पर आश्रित सायण, माधव, महीधर और उव्वट आदि की त्रुटियों को भी उद्घाटित करने वाली थी। सम्भवतः इसका कारण इन विद्वानों का

★ विश्वज्योति जून-जुलाई १९८३ में गुरुकुल पत्रिका तथा मई १९८३ में प्रकाशित।

समसामयिक परिस्थितियों से प्रभावित अनार्ष एवं परवर्ती ग्रन्थों पर आश्रित रहना था तथा साथ ही साथ स्वानुभूति एवं धर्मसाक्षात्कार का अभाव था। अतः बेदोद्धार की चिन्ता होने पर भी किसी मूल निष्ठा एवं व्यग्रता से परिचालित न होने के कारण वे अपने कर्त्तव्य की इतिश्री केवल व्याकरण के आश्रय पर ही मान बैठे।

सम्भवतः दयानन्द का आक्रोश उनके प्रति इतना न होता और वे भी अपना वेदभाष्य बिना किसी सिद्धान्त के कर देते, यदि उन्हें इससे होने वाला एक अन्य कुपरिणाम बहुत भयंकर रूप में व्यथित न कर रहा होता। वे यह देख रहे थे कि सायणादि ने व्याकरण मात्र को दृष्टि में रखकर अग्नि, सूर्यादि से सम्बन्धित मन्त्रों का जिस प्रकार अर्थ किया, उसको ही पढ़कर जो पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर आदि वेदभाष्य में प्रवृत्त हो रहे थे, वे अपने अधकचरे व्याकरण ज्ञान के आधार पर उसमें भी और भौतिकवादी संशोधन कर रहे थे तथा प्रतीकात्मक और वेदमन्त्रों की लाक्षणिकता से आपूर्ण उक्तियों को भी सामान्य बोलचाल की बातें मात्र सिद्ध कर रहे थे। इसी का परिणाम यह है कि उन्होंने सायण आदि की मूल भावना को बिना समझे वेदों को बहुदेववादी वैदिक ऋषियों को जड़- देव उपासक एवं वैदिक उपासना पद्धति को परवर्ती दूषित कर्मकाण्ड पर आधारित मात्र सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार उन्होंने एक नया काम यह किया है कि जहाँ सायण आदि ने अपनी बुद्धि से वैज्ञानिक एवं आधुनिक दृष्टि से चमत्कारपूर्ण रहस्यों को सामान्य तथ्यों की भान्ति उद्घोषित किया था वहाँ उन्हें इन पाश्चात्य विद्वानों ने मूर्खताजन्य कल्पना–मात्र घोषित करके सर्वथा नये, अज्ञानपूर्ण एवं अवनतिपरक अर्थों की अभिव्यक्ति की। परिणामतः जहाँ एक ओर वे भारत के अतीत को मानवता की प्रथम सर्वोच्च निधि घोषित कर रहे थे, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने वेदों को सचमुच ही "गड़रियों के गीत" जैसी वस्तु घोषित कर दिया। इस पर भी बिडम्बना यह है कि वे सायण आदि को ही अपना मूल स्रोत एवं प्रकाशस्रोत उद्घोषित करते रहें। दयानन्द इह बात से व्यथित थे।

एक ओर जहाँ वे सायण के व्याकरण ज्ञान के अत्यधिक प्रशंसक थे, दूसरी ओर वहाँ उन्हें यह दुःख था कि सायण भी उनकी भान्ति यास्कीय एकात्मवाद या महादेववाद से क्यों व्यथित नहीं थे। उन्हें यह भी दुःख था कि

सायण विज्ञान के केवल उन्हीं तथ्यों को उद्घाटित कर पाये जो उनके युग तक किसी न किसी भान्ति सत्य और मान्यता को प्राप्त हो सकते थे। उन्होंने युग से ऊपर उठकर वेद में वर्णित तथ्यों को वैदिक तथ्यों की भान्ति यथावत् रूप में क्यों प्रकट नहीं किया। ये ही सब कारण थे जिनसे व्यथित होकर दयानन्द वेद-भाष्य में प्रवृत्त हुए।

ऋग्वेदादि–भाष्य–भूमिका में वे अपनी वेदभाष्य पद्धति का आधार इस श्लोक में वर्णित करते हैं—

आर्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी।
तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते नु नान्यथा॥

उनके वेद भाष्य को पढ़ते हुए यदि उक्त बातों को हम ध्यान में रखें तब यह स्पष्ट होगा कि व्याकरण, इतिहास, कर्मकाण्ड आदि की दृष्टि से जो अशुद्धियाँ समझी जाती हैं, वास्तव में वे ही उनकी भाष्य शैली की पृथकृता एवं एकात्मकता की प्रतीति है। उनका वेदभाष्य केवल मन्त्रों के शाब्दिक अर्थ तक ही सीमित नहीं है बल्कि वह एक समग्र भावना से जन्म लेने वाला तथ्य है। परम व्याकरणवित् होने के कारण ऋषि स्फोट में विश्वास रखते थे और मन्त्रार्थ का वह स्फोट उनके हृदय में जिस भी रूप में हुआ, व्याकरण निरुक्त आदि की सहायता से तत्रस्थ शब्दों का शाब्दिक या पदगत अर्थ भी उन्होंने उसी को व्यक्त करने के लिए उससे सम्बन्धरूप में कर दिया। यही कारण है कि हम कारक आदि के परम्परागत अर्थों को वहाँ न पाकर एक समग्र तथ्य के अङ्गभूत रूप में पाते हैं।

भाष्य शैली के मूलाधार ग्रन्थ ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका, ऋग्वेद-भाष्य, यजुर्वेद–भाष्य, सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि आदि हैं। भाष्य की मूल भावना, एकेश्वरवाद और त्रैतवाद में विश्वास, परब्रह्म के निराकर, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी होने में निष्ठा और जीव प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता एवं शक्तियों में आस्था है।

भाष्य शैली—दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में एक ऐसा निश्चित क्रम अपनाया है कि वे स्वयं भी किसी प्रकार की व्याकरणात्क या अन्य उपेक्षा अपने वेद भाष्य में करने को तैयार नहीं थे।

१– सर्वप्रथम मन्त्र का मुख्य विषय देते हैं और संक्षेप में समझाते हैं कि इस मन्त्र में इस विषय का प्रतिपादन है ।

२– द्वितीय स्थान वे 'पदच्छेद' को देते हैं जो कि पुरातन पद्धति के वेदपाठ का ही रूपान्तर है । इसमें हम यदि कहीं उपलभ्य हो तो उनकी त्रुटि को या पूर्व परम्परा से विभेद को पहिचानने में समर्थ हो सकते हैं ।

३– तृतीय स्थान वे "अन्वय" को देते हैं । वास्तव में अन्वय ही मन्त्र की मूलस्थ वृत्ति को निश्चित करने वाला है । व्याकरणात्मक रचना एवं वाक्य-विन्यास की परीक्षा का अवसर यहाँ पर भी उपस्थित होता है ।

४– दयानन्द की भाष्य शैली का चतुर्थ और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भाग है 'पदार्थ' । वास्तव में किसी भी भाष्यकार या व्याख्याकार को पदार्थ के प्रसङ्ग में ही अपनी प्रतिभा या मूलभावना दिखाने का अवसर मिलता है । सायण और दयानन्द दोनों ही ऐसा करते हुए व्याकरण एवं निरुक्त या निर्वचन पद्धति का भरपूर आश्रय लेते हैं । अन्दर केवल इतना है कि सायण जहाँ सामान्य लोकभाषा जैसे अर्थों से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, वहाँ दयानन्द वेदों की विशिष्ट पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए और पूर्वकथित सिद्धान्तों के आधार पर उन्हीं सामान्य शब्दों को विशेष वैदिक दृष्टि से देखते हैं । दयानन्द यह भी जानते हैं कि वेद की प्राचीनतम भाषा की व्याख्या पाणिनि और उसके परवर्ती वैयाकरणों द्वारा किये गये धातुपाठों और धात्वर्थों एवं प्रकृति-प्रत्यय-विभाग मात्र के आधार पर नहीं की जा सकती । स्वयं सायण ने भी कुछ विशिष्ट स्थलों पर इस तथ्य को स्वीकार किया है । परन्तु यास्क तो स्वयं पाणिनि से बहुत पूर्व हुए थे । असाक्षात्कृतधर्मा ऋषियों के समकालीन होने पर भी वे स्वयं वेद और धर्म का साक्षात्कार कर चुके थे । इसलिये उनके द्वारा दिये गये धात्वर्थ, व्याकरण नियम एवं प्रकृति-प्रत्यय विभाग उनकी स्वतन्त्र चेतना एवं तीक्ष्ण प्रतिभा के द्योतक हैं । उन्होंने प्रातिशाख्यों की व्याख्या पद्धति एवं ब्राह्मण ग्रन्थों की व्याख्या पद्धति को भी हृदयङ्गम किया था । दयानन्द ने यास्क सहित उक्त सभी पद्धतियों को स्वीकार किया था और जहाँ-जहाँ भी नवीन धातुओं, धात्वर्थों एवं प्रकृति-प्रत्यय आदि की कल्पना की, वह

सब उनके इस पूर्वोक्त अध्ययन पर ही आधारित था। अन्तर केवल इतना ही है कि दयानन्द जिस युग में जिस विद्वद्वर्ग के लिये तथा जिस ज्ञान सामान्य को दृष्टि में रखकर लिख रहे थे, उन सबके लिये यास्क आदि से प्राप्त तथा युगचिन्तन से प्रबुद्ध अपनी भावना को व्यक्त करना उनके लिये सर्वप्रमुख बन चुका था। इसलिये वे इस पदार्थ नामक शीर्षक के अन्तर्गत केवल पदविच्छेद एवं अर्थविच्छेद करके ही सन्तुष्ट हो जाते, अपितु भाष्य की पद्धति से उसके पीछे छिपी मूल भावना को भी स्पष्ट करते हैं। इसी कारण कहीं-कहीं उन्हें अन्वय में पूर्वोल्लिखित पदक्रम से भिन्न क्रम को अपनाना पड़ता है तथा कारक आदि के निश्चित विभक्त्यर्थ आदि की परवाह न करके भी प्रकरणानुकूल अर्थ को स्पष्ट करना पड़ता है। उनके मन्त्रार्थ या उसके भाष्य को एक इकाई मानकर चलते हैं। इसी कारण "पदार्थ" को महत्त्व न देकर उसे केवल मुख्यार्थ को अङ्गभूत अंश ही मानते हैं तथा उसी दृष्टि से उसका स्थान और क्रम निश्चित करते हैं। उनका सत्यभाष्य या वेदार्थ इन्हीं पदार्थों में स्पष्ट हुआ है।

५– दयानन्द की भाष्य पद्धति का पञ्चम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश भावार्थ है। पदार्थ करते हुए वे व्याकरण, निरुक्त आदि जिन सीमाओं में चलने को बाध्य होते हैं, भावार्थ में वे उन सबको तिलाञ्जलि दे देते हैं। उस मन्त्र विशेष को पढ़ने या मनन करने पर जो भी दृष्टि, भावना या प्रेरणा उनके सामने जागती हैं उसे ही वे किसी पद-पदार्थ के बन्धन में पड़े बिना भावार्थ के रूप में प्रस्तुत कर देते हैं। सच तो यह है कि इस भावार्थ को उस मन्त्र विशेष के सम्बन्ध में दयानन्द की अपनी टिप्पणी कहा जा सकता है। भाष्य यदि उक्त, अनुक्त और दुरावतादि सभी बातों का पर्यालोचन करते हुए बढ़ता है. तब कहना होगा कि दयानन्द भावार्थ के माध्यम से उसी उद्देश्य की पूर्ति में प्रवृत्त होते हैं। उस दृष्टि में यदि पदार्थ उनके ज्ञान का सूचक हैं तो भावार्थ उनके मनन और चिन्तन का। दूसरे शब्दों में उनके वेद-भाष्य का अंशभूत यह भावार्थ ही उन्हें सच्चा ऋषि सिद्ध करता है—"ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः"। क्योंकि उनकी सच्ची मन्त्रदृष्टि यहीं पर पूर्णतया व्यक्त हुई है।

इसी प्रसंग में हमारा यह कहना सार्थक होगा कि दयानन्द रूढ़िवादिता के पुजारी नहीं हैं। क्योंकि दयानन्द ने एक ही मन्त्र का विविध ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार से भाष्य किया हैं। इससे यह भी सिद्ध होता हैं कि वेद में

क्वापि पुनरुक्ति दोष नहीं है ।

अन्त में यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि दयानन्द केवल ईश्वरपरक अर्थ करने को भी सच्ची वेदभावना नहीं मानते थे । वे स्पष्टतः वैदिक विषयों अपि वा देवताओं के तीन स्वरूप मानते हैं । (१) आधिभौतिक, (२) आधिदैविक, (३) आध्यात्मिक । अतः वे यह सम्भावना मानकर चल रहे थे और ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका और सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने इस बात की बार-बार घोषणा की है कि अनेकत्र एक ही मन्त्र का अर्थ और उसकी व्याख्या अनेक दृष्टियों से या उक्त तीनों दृष्टियों से की जा सकती है । इनमें से एक दृष्टि भी अनेक वेदों से भिन्न हो सकती है । यथा-आध्यात्मिक दृष्टि से व्याख्या करने पर एक ही मन्त्र परमात्मा और जीवात्मा के प्रसंग में भिन्न भिन्न अर्थों में व्याख्यात किया जा सकता है । भौतिक दृष्टि से विवेचन करने पर अग्नि आदि की व्याख्या अनेक रूपों में की जा सकती है । यही बात अग्नि आदि के आधिदैविक अर्थों के सम्बन्ध में भी है । प्रथम दृष्टि से अग्नि और इन्द्र आदि परब्रह्म और जीवात्मा आदि के लिये यथाप्रसङ्ग स्थित रहते हैं तो दूसरी ओर आधिदैविक रूप में अतिथि, संन्यासी, पर्जन्य, स्तनयित्नु आदि के रूप में भी इन सब दृष्टियों और सम्भावनाओं को सामने रखकर तथा यथासम्भव उत्तमोत्तम ज्ञान की उपलब्धि करके ही वेदार्थ में प्रवृत्त होना चाहिये । वे वेद को परमेश्वरीय और नित्य ज्ञान मानते हैं । उसे सभी प्रकार के सम्भव ज्ञान की अपेक्षा उच्चतर एवं पूर्णतर ज्ञान का भण्डार मानते हैं । इसलिये वास्तविक भाष्य आरम्भ करने से पूर्व उन्होंने एक-एक मन्त्र के अनेक प्रकार के अर्थों से युक्त भाष्य के कुछ नमूने छापकर विद्वद्वर्ग में वितरित किये थे । परन्तु साथ ही यह भी घोषित किया था कि सभी वेदमन्त्रों का इस प्रकार भाष्य करने में अत्यन्त श्रम, समय, धनादि की आवश्यकता होगी जो कि उनके लिये जुटा पाना असम्भव सा था । इसलिये प्रमुखतः आध्यात्मिक दृष्टि को लक्ष्य में रखकर और अनिवार्य दिखाई दे, वहाँ अन्य दृष्टियों से वेदार्थ और वेदभाष्य करने में ही वे प्रवृत्त हुए । परन्तु भाष्यभूमिका में यह सुस्पष्ट उल्लेख किया है कि इतने से यह न समझ लेना चाहिये कि वेद का भाष्य उनके अर्थ के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता या किया ही नहीं जा सकता । दयानन्द अपने भाष्य के माध्यम से तो एक दिशा निर्देश मात्र दे रहे थे ताकि भारत और पश्चिम के विद्वान् सही देख सकें और इस गुरुतर कार्य को अपने सामर्थ्य के अनुसार वहन कर सकें ।

*आचार्य यास्क और वेद

संस्कृत साहित्याकाश में महर्षि यास्कविरचित निरुक्त शास्त्र का अम्बरमणिरिव स्थान है। यह ग्रन्थ अपने ढंग का निराला है। वेदों को समझने के लिये यह ग्रन्थ कुञ्जी का काम देता है। इस ग्रन्थ में वैदिक भाषा की रचना का वर्णन करते हुए वेदों के अध्ययन-सम्बन्धी नियमों का बड़ा मार्मिक वर्णन किया गया है। वैदिक शब्दों के अर्थ किस प्रकार करने चाहिएँ ? इस बात को सहस्रों वैदिक शब्दों की निरुक्ति और व्याख्या करके समझाया गया है। प्रसङ्ग से सैकड़ों वेद-मन्त्रों के अर्थ पर विचार किया गया है। वेदों में वर्णित अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि देवताओं पर विचार किया गया है। इस ग्रन्थ का गम्भीर अध्ययन किये बिना कोई भी मनुष्य वेद को समझने की क्षमता प्राप्त नहीं कर सकता। इतना महत्त्वपूर्ण महर्षि यास्क का यह ग्रन्थ है। यास्क की वेदों के सम्बन्ध में जो सम्मतियाँ हैं, उसे जान लेने से वेदों के प्रति हमारी आस्था तथा अभिरुचि बढ़ेगी ही, घटेगी नहीं। यास्क कहते हैं:—

साक्षात्कृत धर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्यः उपदेशेन मन्त्रान्त्सम्प्रादुः। उपदेशेन ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च॥ निरुक्त १. १॥

सृष्टि के आरम्भ में ऐसे ऋषि उत्पन्न हुए थे जो साक्षात्–कृतधर्मा थे अर्थात् जिन्हें परमात्मा की प्रेरणा से वेदमन्त्रों और उनके अर्थों का साक्षात्कार अर्थात् दर्शन हुआ था। वे साक्षात्कृतधर्मा ऋषि अपने पीछे आने वाले असाक्षात्कृत धर्मा ऋषियों को जिन्हें परमात्मा द्वारा वेदमन्त्रों और उनके अर्थों का बोध नहीं हुआ था, अपने उपदेश द्वारा वेदमन्त्रों को सिखाते रहे। पश्चात् इन पीछे आने वाले ऋषियों ने वेद को समझने के लिये वेद को तथा निरुक्त और वेदाङ्गों को ग्रन्थ रूप में संगृहीत किया।

★ विश्वज्योति जनवरी १९८२ तथा जनज्ञान जनवरी–फरवरी १९८२ में प्रकाशित।

इस प्रकार यास्क की सम्मति में वेद सृष्ट्यादी ऋषियों को परमात्मा द्वारा प्रदत्त ज्ञान है। आदि ऋषियों ने वेदमन्त्रों का साक्षात्कार किया था, निर्माण नहीं। साक्षात्कार पहले से ही विद्यमान वस्तु का हुआ करता है। वेद-मन्त्र परमात्मा के नित्य ज्ञान में पूर्व से सी विद्यमान थे, उन्हीं का साक्षात्कार ऋषियों ने किया। उन मन्त्रों को स्वयं नहीं बनाया। इसी बात को यास्क एक और स्थल पर इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः। तदैनांस्तपस्यमानान् ब्रह्मस्वयम्भुः अभ्यानर्षत्त ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वम् इति विज्ञायते।

निरुक्त २.११॥

ऋषि उसे कहते हैं जो दर्शन करे। औपमन्यव आचार्य ने कहा कि तप करते हुए इनको स्वयम्भु वेद प्राप्त हुआ, इससे वे ऋषि हो गये। यही ऋषियों का ऋषित्व है। "ब्रह्म वेदः। स्वयम्भुः अपौरुषेयः परमात्मनो ज्ञाने नित्यं वर्तमानः। ऋषिशब्दो दर्शनार्थाद् दृशिधातोर्गत्यर्थाद् ऋषीधातोर्वा निरुच्यते। गतेश्च ज्ञानप्राप्ती इत्यप्यर्थौ भवत इति प्रसिद्धमेव।" ऋषि शब्द दर्शनार्थक दृश् धातु से, उसके दकार का लोप होकर बनता है। गति अर्थ वाली ऋष् धातु से भी यह शब्द बनता है। संस्कृत में गति के ज्ञान और प्राप्ति अर्थ भी होते हैं।

वेद स्वयम्भु है। परमात्मा के ज्ञान में नित्य रहने के कारण वेद सदा से स्वयं विद्यमान है। किसी ने उसे बनाया नहीं। वह अपौरुषेय है। ऋषियों ने तपस्या करके वेद को केवल देखा है। प्राप्त किया है, जाना है। वेद को देखना, प्राप्त करना, जानना ही ऋषियों का ऋषित्व है। ऋषियों ने वेद मन्त्रों को स्वयं नहीं बनाया है। परमात्मा की कृपा से उन पर ही मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित हो जाता है। इस प्रकार यास्क के मत में वेद परमात्मा का ज्ञान है। ऋषि लोग तो केवल उसके प्रचारक और व्याख्याकार एवं भाष्यकारमात्र हैं।

परमात्मा ने वेदमन्त्रों का ज्ञान ऋषियों को किस लिए दिया; इस सम्बन्ध में यास्क कहते हैं।

"कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे" **नि० १.२॥**

वेद में जो मन्त्र हैं वे अनेक प्रकार के कर्मों की सिद्धि करने वाले हैं। वेद सर्वथा सर्वज्ञ परमात्मा का ज्ञान होने से पूर्ण और नित्य है । अतएव वह असन्दिग्ध और सत्य ज्ञान का भण्डार है । अतः मन्त्रों में जो ज्ञान दिया गया है, वह इस प्रकार का है कि उसके द्वारा हमारे सब प्रकार के कर्मों की सिद्धि हो सकती है । वेद मन्त्रों में दिये गये ज्ञान के अनुसार चल कर हम लोक और परलोक के सब सुखों को प्राप्त कर सकते हैं । वेद ज्ञान के बिना मनुष्य अपने कर्मों से यह फल प्राप्त नहीं कर सकता था । क्योंकि—

"पुरुषविद्याऽनित्यत्वात्" निरुक्त १. २ ॥

मनुष्य का ज्ञान तो अनित्य है । मनुष्य का अपना ज्ञान अपूर्ण और परिवर्तनशील है । अतः वह असन्दिग्ध और स्थिर नहीं हो सकता । ऐसे सन्दिग्ध ज्ञान के आधार पर किए कर्म भी इहलोक और परलोक में सच्चे सुख की सिद्धि नहीं करा सकते । इस कारण यास्क के मत में पूर्ण और नित्यज्ञान वाले परमात्मा द्वारा सृष्टि के आरम्भ में वेद का उपदेश दिए जाने की आवश्यकता है । यास्क के मत में वेदमन्त्र कहलाते ही इस कारण हैं कि "मन्त्रा मननात्" निरुक्त ७. १२ ॥ उनके मनन से भान्ति-भान्ति का ज्ञान सीखा जाता है । यास्क के इस वाक्य पर निरुक्त के प्रसिद्ध टीकाकार दुर्गाचार्य ने लिखा है—

"तेभ्यः (मन्त्रेभ्यः) हि अध्यात्माधिदैवाधियज्ञादिमन्तारो मन्यन्ते तदेषां मन्त्रत्वम् ।"

(निरुक्त दुर्गवृत्ति ७. २)

मन्त्रों से आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधियाज्ञिक अर्थों को वेद के अध्येता लोग मनन द्वारा प्राप्त करते हैं । यही मन्त्रों का मन्त्रत्व है । इस प्रकार वेदमन्त्र आध्यात्मिक, आधिदैविक और अन्य अनेक प्रकार का ज्ञान देते हैं । यही वेदमन्त्रों का वैशिष्ट्य है । वेद मानव जीवन के लिये उपयोगी सब प्रकार का ज्ञान तो सिखाते ही हैं; परन्तु उनका अन्तिम तात्पर्य परमात्मा का ज्ञान देकर उसका साक्षात्कार कराना है । वेद में जो अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि विभिन्न देवताओं के वर्णन आते हैं, वे भी वस्तुतः परमात्मा का ही वर्णन करते हैं । यास्क कहते हैं—

"महाभाग्याद् देवतायाः एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।" (निरुक्त ७.४)

परमात्मा रूप देवता में महान् ऐश्वर्य होने के कारण भिन्न-भिन्न देवताओं की स्तुति द्वारा एक आत्मा (परमात्मा) के ही अनेक अङ्ग हो जाते हैं। इस प्रकार यास्क की सम्मति में वेद का मुख्य तात्पर्य अध्यात्म-विद्या का उपदेश करना है। इसीलिये यास्क ने निरुक्त के प्रथम बारह अध्यायों में जहाँ प्रधानतः मन्त्रों के आधिभौतिक और आधिदैविक अर्थ किये हैं; वहाँ अन्तिम तेरहवें अध्याय में नमूने के रूप में आध्यात्मिक अर्थों को भी दर्शाया है।

इस प्रकार आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक विषयों का ऊँचा ज्ञान देने वाले वेद का अध्ययन करने और उसको समझने का क्या उपाय है? किस योग्यता का व्यक्ति वेद के रहस्यों को समझ सकता है? आचार्य यास्क कहते हैं—

"इत्ययं मन्त्रार्थ चिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढः। अपि श्रुतितोऽपि तर्कतः। न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः।" (निरु० १३.१४)

इस प्रकार यह मन्त्रों का अर्थ-चिन्तन विषय का ऊहापोह कर के दिखा दिया है। श्रुति से अर्थात् स्वयं वेद के प्रमाणों से अथवा अनेक शास्त्रों के श्रवण द्वारा प्राप्त योग्यता से और तर्क से मन्त्रों का अर्थ करना चाहिये। पृथक्-पृथक् मन्त्रों का निर्वचन नहीं करना चाहिये; प्रकरण को देखकर उनका निर्वचन करना चाहिए। जो व्यक्ति ऋषि नहीं है अथवा तपस्वी नहीं है, उसे मन्त्रों का अर्थ प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। शास्त्रों के मर्म को समझने वाले विद्वानों में जो जितनी अधिक विद्याओं को जानता है, वह उतना ही अधिक प्रशंसनीय होता है अर्थात् वह वेद को अधिक अच्छी तरह से समझ सकता है। जब ऋषियों की परम्परा उठने लगी तब मनुष्यों ने देवों से कहा कि अब हमारे लिये ऋषि कौन होगा? तब देवों से मनुष्यों को यह तर्क रूप ऋषि दे दिया, जो कि मन्त्रार्थ चिन्तकों द्वारा धारण किया जाता है। इसलिये वेद का स्वाध्याय करके तर्क द्वारा ऊहापोह करके जो कुछ अर्थ निश्चित होता है, वह अर्थ तर्क-ऋषि द्वारा बताया हुआ होने के कारण

आर्ष अर्थ होता है। किस योग्यता का व्यक्ति वेदार्थ करने का अधिकारी होता है और वेदार्थ किस प्रकार करना चाहिये ? इस सम्बन्ध में यास्क की उपर्युक्त मान्यता अत्यन्त स्पष्ट है। इनकी और व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। यास्क के मत में वेद मन्त्रों का अर्थ तर्कानुमोदित, बुद्धिसङ्गत होना चाहिये। जो अर्थ तर्कानुमोदित नहीं है वह ठीक नहीं है। वहाँ वेद का दोष नहीं है, भाष्यकार का दोष है। वेद में जो कुछ कहा गया है वह तर्कानुमोदित और बुद्धिसङ्गत ही कहा गया है। इसी विषय में आचार्य एक अन्य स्थल पर लिखते हैं--"सेयं विद्या श्रुतिमति बुद्धिः। तस्यास्तपसा पारमीप्सितव्यम्" ॥ निरु० १३. १३ ॥

यह वेद विद्या ऐसी है जिसका बोध या ज्ञान श्रुति अर्थात् वेद के प्रमाणों तथा अनेक शास्त्रों के श्रवण, अध्ययन और मनन द्वारा होता है। तप द्वारा उस वेद विद्या का पार जानने की इच्छा करनी चाहिये। जो तपः-पूत पवित्र जीवन वाला नहीं है, वह वेद के रहस्य को नहीं समझ सकता है। ये हैं वेद के सम्बन्ध में महर्षि यास्क के विचार।

● ● ●

महर्षि दयानन्द ने वेद को अपनी दृढ़ आधार-शिला के रूप में अपनाया। वे वेद को अपने जीवन का मार्गदर्शक, अपनी आन्तरिक सत्ता का नियम और अपने बाह्य कार्य का प्रेरणा-प्रदाता समझते थे। इतना ही नहीं, वे इसे शाश्वत सत्य की वाणी मानते थे जिसे मनुष्य मात्र अपने ईश्वर ज्ञान के लिए तथा भगवान् एवं मानव साथियों के प्रति अपने सम्बन्धों के लिये उचित और दृढ़ आधार बना सकता है।

*महर्षि दयानन्द की वेद विषयक मान्यताएं

सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द ने वेद को सर्वोपरि मानते हुए घोषणा की थी कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। "वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।" इस घोषणा से देश और विदेश में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। दयानन्द ने अपना समग्र जीवन वेद के प्रचार व प्रसार में बितायां। वेद सार्वकालिक और सार्वभौम है। वेद शाश्वत् और सनातन है। वेद ज्ञान तो उस सरिता की तरह है जो निरन्तर प्रवाहित हो रही है। अनादिकाल से अनन्तकाल तक। जिसमें जितनी क्षमता है जिसमें जितनी ग्राहक शक्ति है वह उतना ही वेद ज्ञान रूपी सरिता से जल ग्रहण कर सकता है। तो आईये हम वेद विषयक दयानन्द की मान्यताओं का अध्ययन करें।

(१) महर्षि दयानन्द ने अत्यन्त प्रबलयुक्तियों से और प्रमाणों से मानव सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता को सिद्ध करते हुए अनेक कसौटियों से प्रमाणित किया कि ईश्वरीय ज्ञान वेद ही है, जिसकी शिक्षायें सर्वथा पवित्र, सार्वभौम, युक्तिसङ्गत तथा तत्त्वज्ञान सम्मत हैं।

(२) वेद ईश्वरीय ज्ञान है और मानवसृष्टि के प्रारम्भ में प्रकाशित होने के कारण नित्य है। अतः उनमें अनित्य इतिहास नहीं हो सकता। वेदों में पाये जाने वाले वसिष्ठ, जमदग्नि, विश्वामित्र, अग्नि, कवि इत्यादि शब्द व्यक्तिवाचक नहीं, प्रत्युत गुण विशिष्ट व्यक्ति तथा पदार्थ वाचक हैं। जैसे कि प्राणो वै वशिष्ठ ऋषिः (शतपथ ८।१।१।६) प्रजापतिर्वै वसिष्ठः (कौषीतकी ब्रा० २५।२२६।१९) प्रजापतिर्वै जमदग्निः (शत० १३।२।२।१४) श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः (शत० ८।१०।२।६) मनो वै भारद्वाज ऋषिः (शत० ८।१।१।९) प्राणो वै अङ्गिराः (शत०३।१।२।८) कण्व इति मेधाविनाम (निघण्टु ३।५) इत्यादि वैदिक वचनों से सिद्ध होता है।

★ गुरुकुल पत्रिका अगस्त १९८२ में तथा आर्यसमाज सिलीगुड़ी (बंगाल) की स्मारिका फरवरी १९८३ में प्रकाशित।

(३) वेदों के शब्द यौगिक वा योगरुढ़ हैं, केवल रूढ़ी नहीं, जैसे— "सर्वाणि नामान्याख्यातजानीति शाकटायनः नैरुक्तसमयश्च" निरुक्त १।४।१२ नाम च धातुजमाह निरुक्ते, व्याकरणे शकटस्य च तोकम्" (महाभाष्य– ३।३।१) वेद के शब्दों को लौकिक संस्कृत के अनुसार रूढ़ मानकर उनकी व्याख्या करना उचित नहीं। यौगिक होने के कारण अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, यम, मातरिश्वा, रुद्र, देव आदि शब्द आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक दृष्टि से अनेकार्थक हैं।

(४) वेद विशुद्ध रूप से एकेश्वरवाद का प्रतिपादक है। अग्नि, मित्र, वरुण आदि शब्द प्रधानतया परमेश्वर वाचक हैं। यथा—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋ० १।१६४।४६)

आधिभौतिक क्षेत्र में वे ज्ञानी ब्राह्मण, ऐश्वर्य सम्पन्न राजा, जीव, पुरोहित, अज्ञानान्धकार निवारक श्रेष्ठ पुरुष इत्यादि के भी वाचक हैं। ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य (मास) इन्द्र (विद्युत्) और प्रजापति (यज्ञ) ३३ तत्त्व प्रकाशदायक तथा लाभकारी होने के कारण वेदादि शास्त्रों में देव कहे गये हैं। किन्तु उपास्य देव एक परमेश्वर ही है।

(५) यज्ञ शब्द यज् धातु से बनता है, उसके देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान, ये तीन अर्थ हैं। जो अपने से बड़ों, बराबर स्थिति वालों और हीनों (छोटों) के प्रति कर्त्तव्य के सूचक हैं। अतः अपने तथा जगत् के कल्याण के लिये किया गया प्रत्येक शुभकार्य यज्ञ कहलाता है। यज्ञों में पशु-हिंसा सर्वथा वेद विरुद्ध है। यज्ञ के लिये वेदों में सैकड़ों स्थानों पर "अध्वर" शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसका अर्थ है "अध्वर इति यज्ञनाम ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः" (निरुक्त १।८) यास्काचार्य के मतानुसार हिंसारहित शुभकर्म यज्ञ है।

(६) वेदों में आध्यात्मिक विद्या के अतिरिक्त भौतिक विद्याओं का भी बीज रूप से उपदेश है। ज्योतिष, आयुर्वेद, धनुर्वेद, समाजशास्त्र,

नीतिशास्त्र, विज्ञान (Science) आदि का मूल वेदों में विद्यमान है। महर्षि दयानन्द द्वारा अभिमत ये मन्तव्य प्राचीन ऋषि-मुनियों द्वारा सम्मत है और उनके समर्थन में सैकड़ों प्रमाण दिये जा सकते हैं।

(७) वेद में सभी को वेदाध्ययन का अधिकार दिया गया है। "यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः" (यजु० २६। २) इस वैदिक आदेशानुसार दयानन्द ने नारी और शूद्रों को अध्ययन का अधिकार दिया है।

(८) महर्षि दयानन्द के वेदार्थ विषयक शास्त्र तथा तर्क सम्मत इस क्रान्ति का देश-विदेश के विद्वानों पर भी अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा है। सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् प्रो० मैक्समूलर तथा नोबल पुरस्कार विजेता और "महान् रहस्य" (Great Secret) नामक ग्रन्थ के लेखक मैटर्लिंक दोनों ने वेदों को ज्ञान का विशाल भण्डार बताया है, जिसे मानव सृष्टि के प्रारम्भ में ऋषियों पर प्रकट किया गया है।

Vast resevoir of the wisdom that some where took shape simultaneously with the origin of man. (Materlink in the great secret)

रूसी ऋषि ताल्स्ताय, अमेरिका के विचारक थोरिजो आयर के जेम्स कजिन्स इत्यादि पाश्चात्य विद्वानों पर तथा जगत् विख्यात योगी श्री अरविन्द, श्री कपाली शास्त्री, श्रीमाधव पुण्डरीक पंडित आदि भारतीय विद्वानों पर और पारसी विद्वान् श्री दादाचान जी, सरसैय्यद अहमद खाँ, सरयासिन खाँ आदि मुसलमान विद्वान् पर महर्षि दयानन्द के वेद विषयक विचारों और वेदभाष्यादि का अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा।

स्वर्गीय पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति तथा अन्य आर्य विद्वानों से जीवन भर शास्त्रार्थ करने वाले महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी को भी लिखना पड़ा कि—वेद के वैज्ञानिक युग के व्याख्याकार श्री स्वामी दयानन्द जी हैं। उन्होंने वेद के गौरव की ओर आर्य जाति की दृष्टि बहुत कुछ आकृष्ट की है। इस कारण से उनका भी उपकार विशेष माननीय है[1]।

१ "वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति पं० गिरधर शर्मा जी कृत।"

पण्डित राज सारस्वत, सार्वभौम, सामवेद और यजुर्वेद भाष्यकार स्वामी भगवदाचार्य जी कनखल हरिद्वार के महामण्डलेश्वर, चातुवर्ण्य भारत समीक्षा, ऋग्वेद, यजुः, साम, अथर्वसंहितोपनिषच्छतकों के लेखक परमहंस परिव्राजक स्वामी महेश्वरानन्द जी गिरि इत्यादि विद्वानों पर महर्षि दयानन्द के वेद विषयक मन्तव्यों का यह प्रभाव पड़ा कि उन्होंने स्त्री-शूद्रादि सब के वेदाधिकार के सिद्धान्त का अपने ग्रन्थों में पूर्णतया समर्थन किया है। दयानन्द के गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था के सिद्धान्त को स्वीकारा है।

The Vedas are the Scriptures of true knowledge.
(Swami Dayanand Saraswati)

मेरा पूरा विश्वास है कि वेद की व्याख्या के विषय में महर्षि दयानन्द उसके सच्चे सूत्रों के प्रथम आविष्कर्ता के रूप में सदा समादृत किये जायेंगे, भले ही वेद की सर्वाङ्गपूर्ण व्याख्या कोई भी क्यों न हो। उनका प्रत्यक्षदर्शी चक्षु पुराने अज्ञान और युग-व्यापि भ्रान्ति की अव्यवस्था और अन्धरात्रि को भेदकर सीधे ही सत्य की तह तक पहुंचा और मूल तत्त्व पर जा टिका। उन्होंने उन द्वारों की कुञ्जी प्राप्त की जिन्हें काल ने बन्द कर रखा था और रुद्ध निर्झरों के मुँह पर लगी मोहर तोड़ फेंकी।

*वेद, निर्वचन-पद्धति का आदि स्रोत

'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना–पढ़ाना और सुनना–सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।' (महर्षि-दयानन्द)

विश्व-साहित्य में वेदों से प्राचीन कोई वाङ्मय नहीं है। वेदों के विश्व साहित्य में गौरव का कारण उनके उच्चस्तरीय ज्ञान-विज्ञान की पराकाष्ठा है। उनमें वर्णित ज्ञानस्तर के समक्ष आज सभ्य और विकसित कहे जाने वाले इस युग का उन्नत से उन्नत साहित्य सिन्धु के समक्ष विन्दु का भी स्थान बड़ी कठिनता से रखता है।

मैक्समूलर ने कहा था—"संसार के समस्त पुस्तकालयों में ऋग्वेद सबसे प्राचीन पुस्तक है।" इतने प्राचीन और गम्भीरतम साहित्य का कालान्तर में क्रमशः अस्पष्ट होते जाना आश्चर्य की बात नहीं। जब मानव शनैः शनैः वेदार्थ को कम समझने लगा, तब हमारे ऋषियों और मनीषियों ने वेदार्थ स्पष्ट करने और वेदाध्ययन-अध्यापन के संरक्षणार्थ षडङ्गों का निर्माण किया। जिनमें निर्वचन शास्त्र (निरुक्त) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनीषियों ने "निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते" कहकर निरुक्त को श्रोत्र से उपमित किया है। यह नितान्त सत्य है कि हम विना निरुक्त-ज्ञान के वेद को किञ्चिदपि नहीं समझ सकते। आचार्य शिपिविष्ट से लेकर आचार्य यास्क तक निर्वचन शास्त्र का विकास तथा प्रचार होता रहा है। आचार्य यास्क के पश्चात् निरुक्त से सम्बन्धित किसी मौलिक ग्रन्थ का प्रणयन नहीं हो सका। केवल मात्र यास्क प्रणीत निरुक्त पर विभिन्न आचार्यों ने अपनी-अपनी टीकाएं लिखी हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि इतने महत्त्वपूर्ण निर्वचन–शास्त्र का आदिस्रोत क्या है? क्या यह शब्द–निर्वचन की शैली ऋषियों की अपनी

★ दयानन्द सन्देश मई १९८२ में प्रकाशित।

मेधा की उपलब्धि है जो उन्होंने कहीं अन्य स्थान से इस शैली को ग्रहण किया है। वेदों को अपौरुषेय स्वीकृत करते हुए वैदिक चिन्तन सन्तति ने विश्व की समस्त विद्याओं का आदि स्रोत स्वीकार किया है। इस दृष्टि से वेदों का अवलोकन और विलोडन किया जाय, तो वस्तुतः वेदों में गणित, ज्योतिष, रसायन, जीव विज्ञान, भौतिकशास्त्र तथा निरुक्तादि का मूल उपलब्ध होता है। तात्पर्य यह है कि निरुक्त की निर्वचन–पद्धति ऋषियों की अपनी मेधा की उपज नहीं कही जा सकती। क्योंकि इस पद्धति का मूल वेदों में स्पष्टतया उपलब्ध होता है। परन्तु वेदों में संक्षिप्त संकेतों को प्राप्त कर उसके आधार पर एक विशाल और विकसित शास्त्र का निर्माण साधारण मेधा के वश की बात नहीं थी, इसके लिये भी ऋषित्व ही अपेक्षित था। हमारे ऋषियों और आचार्यों ने वेदों में तर्कयुक्त सरल शब्द निर्वचन–पद्धति को देखकर एक विशिष्ट शब्दार्थ-शैली को प्रस्थापित किया। जिनका संकलन निरुक्त नाम से प्रसिद्ध हुआ। सम्प्रति आचार्य यास्क का ही निरुक्त उपलब्ध होता है। यास्क के विषय में काल की दृष्टि से विद्वानों में मत एक नहीं है। परन्तु यह तो निश्चित है कि यास्क महाभारत के पूर्व ही प्रतिष्ठित होते हैं। इन आचार्यों का यह प्रयास वेदार्थ समझने और समझाने में स्वाध्यायकर्त्ताओं और विद्वानों के लिये वरदान सिद्ध हुआ है।

यहाँ स्थालीपुलाक न्याय से वेदों के कुछ ही अतिस्पष्ट उदाहरण देना चाहते हैं, जिससे यह प्रमाणित होता है कि निरुक्त का आदिस्रोत वेद ही है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद १।३४।१० में (हविः) शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है– "हूयते हविः।" इसी प्रकार (१।६।६) में "ऋग्मियम्" की निरुक्ति में लिखा है—"गीर्भिर्गृणन्त ऋग्मियम्" अर्थात् वाणी से जिसकी स्तुति या अर्चना की जाये वह "ऋग्मियम्" अर्चनीय परमेश्वर है। यास्क ने "ऋग्मियम्" की निरुक्ति वेद के अनुसार ही की है—"ऋग्मियम् ऋग्मन्तम् इति वा अर्चनीयमिति वा" अर्थात् ऋचावान् या पूजनीय अर्थ हुआ।

अथर्ववेद ३।१३ में नदी और जल के अनेक पर्यायवाची शब्दों का निर्वचन अत्यन्त ही मनोरम किया है। नदी शब्द की निरुक्ति कितनी स्वाभाविक की गई है—

यददः सम्प्रयन्तीरहावनदता हते ।
तस्मादा नद्यो नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः ॥

अर्थात् (सिन्धवः) हे बहने वाली नदियो ! (सम्प्रयन्ती) मिलकर आगे बढ़ती हुई तुमने (अहौ हते) मेघ के ताड़ने पर (अदः यत्) वह जो (अनदत्) नाद किया (तस्मात्+आ) इसलिये ही (नद्यः) नाद करने वाली नदी (नाम स्थ) तुम हो ।

यास्क ने भी नदी शब्द की यही निरुक्ति की है—"नद्यः कस्मात् ? नदना इमा भवन्ति शब्दवत्यः," अर्थात् बहती हुई नदी से आवाज या नाद होता है । अतः उसे नदी कहते हैं ।

जल के पर्यायवाची "आपः" शब्द का निर्वचन अत्यन्त ही रमणीय ढंग से किया गया है—

"आप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनुष्ठान"

अर्थात् इन्द्र ने तुमको चलते हुए "आप्नोत्" प्राप्त किया 'तस्मात् आप इसलिये तुम्हारा नाम आप' है ।

वेद की 'वार' शब्द की निरुक्ति भी कितना हृदयगम्य है—

"अप कामं स्यन्दमाना अवीवरत् वो हि कम् ।
इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद्वार्नाम वो हितम् ॥"

इन्द्र अर्थात् राजा ने तुमको व्यर्थ बहते हुए अपनी शक्ति से "अवीवरत्" वरण किया है । "तस्माद् वार्नाम" इसलिये तुम्हें 'वार' नाम से पुकारा जाता है ।

"उदकम्" शब्द की निरुक्ति में तो वेद भगवान् ने चमत्कार ही उत्पन्न कर दिया है—

"उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते"

अर्थात् "उदानिषुः" ऊपर की ओर से श्वास लिया अर्थात् उछाला । "तस्मादुदकमुच्यते" इससे उदक कहा जाता है ।

इस प्रकार अनेक उदाहरण प्रमाण रूप में दिये जा सकते हैं। ऋग्वेदसंहिता में लगभग चार सौ से भी अधिक एक ही धातु से निष्पन्न नाम और आख्यातों के इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। वेद के उपर्युक्त उदाहरणों से यह सुस्पष्ट सिद्ध होता है कि निरुक्त–पद्धति के विकास की प्रेरणा हमारे ऋषि–मनीषियों को वेद से ही मिली है। उन्होंने वेद की शब्द–निर्वचन शैली को ग्रहण कर "निरुक्त" जैसे वेदार्थज्ञापक ग्रन्थ का प्रणयन किया। अतः निश्चित रूपेण कहा जा सकता है कि निरुक्त–पद्धति का आदिस्रोत वेद ही है।

●●●

महर्षि दयानन्द के इस विचार में तनिक भी मनमानी काल्पनिकता नहीं है कि वेदों में धार्मिक सत्य के समान ही वैज्ञानिक सत्य भी निहित है। इसके साथ ही मैं यह भी कहता हूं कि मेरे विश्वास के अनुसार वेदों में एक दिव्य विज्ञान के अन्य सत्य भी हैं जो वर्तमान जगत् के पास बिल्कुल ही नहीं हैं। ऐसी दशा में महर्षि ने वैदिक विद्या की गम्भीरता और विशालता के विषय में अत्युक्ति नहीं बल्कि न्यूनोक्ति ही की है।

*वेद और आधुनिक विज्ञान

प्राचीन मान्यता के अनुरूप वेदों में विज्ञान की सत्ता का निरूपण कर महर्षि ने वेदाध्ययन के एक नये आयाम का ही उद्‌घाटन किया है, जिस पर सारे शोध और अनुसंधान उपेक्षित हैं। इस प्रसङ्ग में योगी अरविन्द ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि स्वामी दयानन्द का वेद में विज्ञान का अस्तित्व स्वीकार करना किञ्चित् भी आश्चर्यजनक नहीं है अपितु उन्होंने तो यहाँ तक कहा कि वेदों में विज्ञान के कुछ ऐसे तथ्य भी पाये जाते हैं, जिन्हें आधुनिक वैज्ञानिक अभी तक जान भी नहीं पाये हैं। मूल अंग्रेजी उद्धरण इस प्रकार है :—

"There is nothing fantastic in Dayanand's idea that the Veda contains truth of Science as well as truth of religion. I will even add to my conviction that the Veda contains the others truths of Science the modern world not at all possess and in that case Dayanand has rather understated than overstated the depth and range of the Vedic wisdom."

महर्षि ने ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में सृष्टि विद्या विषय प्रकरण में ऋग्वेद के मन्त्रों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि ईश्वर ने प्रत्येक लोक के चारों ओर सात-सात परिधि रची हैं और उनके नाम भी दिये हैं। पृथ्वी किस प्रकार रची गई है इसका भी उल्लेख किया है। वैज्ञानिकों को इस नये रहस्य पर विचार एवं अनुसन्धान करना चाहिये। क्योंकि आधुनिक विज्ञान अभी तक इस सीमा तक नहीं पहुंच पाया है।

★ आर्यसमाज हापुड़ तथा आर्यसमाज पथरगामा (बिहार) में दिया गया भाषण।

वस्तुत: वेद स्वयं ही विज्ञान है। विद् ज्ञाने, विद् विचारणे, विद् सत्तायाम्, विद्लृ लाभे इन धातुओं से निष्पन्न वेद शब्द ऋक्-यजु-साम-अथर्व के ज्ञान-कर्म-उपासना और विज्ञान की ओर संकेत दे रहा है। ये चारों विषय ऐसे सार्वभौम हैं कि प्राणीमात्र इसकी सीमा से बाहर नहीं निकल सकते। मैं बोल रहा हूं; इससे पहले कोई ज्ञान मेरे मष्तिस्क में हैं, बोलकर आप तक पहुंचाने का प्रयास कर्म की ओर और सुनने के पश्चात् जो उपलब्धि हो रही है, वह उपासना की ओर तथा उस उपलब्धि के अनन्तर जो एक विशेष प्रकार की अनुभूति हो रही हैं, वह स्वाभाविक विज्ञान का प्रतिपादन कर रही है। संसार का कोई भी प्राणी इस विज्ञान से बाह्यभूत नहीं है।

सर्वप्रथम तो वेदों की लिपि ही वैज्ञानिक है। यजुर्वेद के ३१ से ३४ मन्त्रों तक "अग्निरेकाक्षरेण, अश्विनौ द्व्यक्षरेण, विष्णुस्त्र्यक्षरेण, सोमश्चतुरक्षरेण, पूषा पञ्चाक्षरेण, सविता षडक्षरेण, मरुत: सप्ताक्षरेण, बृहस्पतिरष्टाक्षरेण, मित्रो नवाक्षरेण, वरुणो दशाक्षरेण, इन्द्र एकादशाक्षरेण, विश्वेदेवा द्वादशाक्षरेण, वसवस्त्रयोदशाक्षरेण, रुद्राश्चतुर्दशाक्षरेण, आदित्या: पञ्चदशाक्षरेण, षोडशाक्षरेण प्रजापति: सप्तदशाक्षरेण अदिति:।"

इत्यादि मन्त्रों के माध्यम से १७ अक्षरों के लिपि का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। इनमें अ, इ, उ, ऋ, लृ, ये ५ स्वर तथा ५ वर्गों के अल्पप्राणगत १० अक्षर, अनुस्वार और विसर्ग बस इनसे ही समस्त लिपि का स्वरूप निरूपित हुआ है। पाँच वर्णों के पञ्चमाक्षर अनुस्वार से तथा ह, स, श, और ष विसर्ग से "विसर्जनीयस्य स:" इस सूत्र के द्वारा तवर्गों में सकार बनकर, चवर्गों में शकार बनकर और टवर्गों में मूर्धन्य षकार होकर प्रयुक्त हुए हैं। इ और अ से यकार, उ और अ से वकार, अकार की मात्रा जिह्वा से निष्पन्न करके समस्त वैदिक लिपि का स्वरूप निखरा है। इतना ही नहीं अपितु समस्त शब्दों के उच्चारण के भिन्न-भिन्न स्थान अपने-अपने स्थानों की आकृतियों में व्यवहृत हुए हैं। अकार कण्ठस्थानीय है, वह कण्ठगत वर्तुलाकार काग वाले स्थान से तथा लम्बी जिह्वा का मात्रा के रूप में सम्बन्ध बनाकर अकार की आकृति का स्वरूप धारण कर रहा है। विश्व की किसी भी भाषा की कोई भी लिपी इतनी वैज्ञानिक नहीं है, जितनी वैदिक भाषा से सम्बन्ध समस्त संस्कृत वाङ्मय की लिपी की वैज्ञानिकता है। किसी भी

शब्द के उच्चारण में बालक तक को भी कठिनाई का अनुभव नहीं होता। चारों वेदों के मन्त्रों का उच्चारण इतना सुगम है कि उसे थोड़े प्रयास से ही पूर्णतया हृदयङ्गम कर लिया जाता है किन्तु अन्य भाषाओं की लिपियों के उच्चारण का स्वरूप अनियमित और अवैज्ञानिक होने के कारण बड़ा ही जटिल है। वैदिक भाषा भी तथा तद्गतमन्त्रों के उच्चारण की ध्वनि भी अपने में पूर्ण वैज्ञानिकता लिये हुए है।

रूस में किये गये परीक्षणों से तो समस्त शब्दों की संगीतमयी मधुर ध्वनि जहाँ पशु-पक्षियों और मानवजाति के समस्त रोगों की विनाशक है, वहाँ वह वनस्पतियों के उद्भव में भी बड़ी वैज्ञानिक सिद्ध हुई है। रूस के वैज्ञानिकों ने विश्व की समस्त भाषा और लिपि को अपने कम्प्यूटर पर परखने का प्रयास किया तो उन्होंने पाया कि संस्कृत भाषा और वैदिक संस्कृत अपने आप में परिपूर्ण है तथा कम्प्यूटर की भाषा व लिपि हो सकती है। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पूर्व स्नातक श्री पूर्णचन्द्र वेदालङ्कार का तो यहाँ तक कहना है कि वेदमन्त्रों की ध्वनि से समस्त संक्रामक कीटाणुओं का विनाश हो जाता है, क्योंकि उन्हीं के सामने लाहौर में एक बार एक जर्मन वैज्ञानिक ने शब्दों के एक विशिष्ट परीक्षणात्मक यन्त्र से यह प्रत्यक्ष कर दिखाया था।

वेदमन्त्रों के समस्त प्रतिपाद्य विषय भी वैज्ञानिकता से परिपूर्ण हैं। सर्वप्रथम अध्यात्म–विज्ञान के किसी भी क्षेत्र का निरीक्षण कीजिये, सबमें मानव–जीवन; नहीं-नहीं, प्राणीमात्र के जीवन के अभ्युत्थान का निर्णीत विज्ञान सर्वत्र दृष्टिगोचर है। इससे भारतीय विद्वान् ही नहीं, अपितु पाश्चात्य विद्वान् भी सहमत हैं।

अध्यात्म–विज्ञान में ईश्वर, आत्मा, प्रकृति, पुनर्जन्म, कर्मभोग तथा जन्म–जन्मान्तर के संस्कार और उनके दग्ध होने पर योग–सिद्धियाँ तथा मुक्ति आदि के विज्ञान को प्राप्त करने के लिये आज यूरोप के विभिन्न स्थानों से बड़े-बड़े विद्वान् यहाँ आ रहे हैं। इसी अध्यात्म–विज्ञान में ईश्वर की सत्ता, आत्म-तत्त्वदर्शन तथा पुनर्जन्म का प्रतिपादन वेद–विज्ञान का ही अकाट्य अङ्ग है। वर्णाश्रमों की व्याख्या तो भारतीय विज्ञान की एक बहुत

बड़ी देन है। "मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे" का महान् आदर्श केवल वेदों में ही मिलेगा। "मोघमन्नं विदन्तेऽप्रचेताः" इत्यादि मन्त्र के द्वारा दूसरों की तृप्ति करके तथा बलिवैश्वदेव यज्ञ के माध्यम से प्राणीमात्र के साथ आत्मीयता का व्यवहार वेदों में ही मिलेगा। समस्त विश्व को आत्मवत् समझकर समस्त प्राणियों के कल्याण की प्रवृत्ति का स्रोत वैदिक–विज्ञान की गङ्गा से ही उद्भूत हुआ है। समस्त आदर्श, समस्त गौरव, समस्त सभ्यताएँ और समस्त संस्कृतियाँ यहीं से पल्लवित, पुष्पित तथा फलित हुई हैं।

आइए—थोड़ा आधुनिक विज्ञान की ओर भी दृष्टिपात करें। इस भौतिक–विज्ञान में—खगोल–विज्ञान, भूगोल–विज्ञान, रसायन–विज्ञान, जीव-विज्ञान, वनस्पति–विज्ञान, यन्त्र–विज्ञान और वास्तु–विज्ञान आदि और भी अनेकानेक विज्ञान गर्भित हैं।

महर्षि की भाष्यभूमिका एवं वेदभाष्य से प्रेरणा प्राप्त करके पं० गुरुदत्त विद्यार्थी ने ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के कुछ मन्त्रों की वैज्ञानिक व्याख्या की है। उदाहरणार्थ :—

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्।
धियं घृताचीं साधन्ता॥

मन्त्र में वर्णित मित्र और वरुण क्रमशः हाईड्रोजन और ओक्सिजन के प्रतीक हैं, जिनके एक विशिष्ट मात्रा (H_2O) में मिलने से जल की उत्पत्ति होती है।

खगोल–विज्ञान को लेकर छान्दोग्योपनिषद् में "असौ वा आदित्यः पिङ्गलः, एष शुक्लः, एष नीलः, एष पीतः, एष लोहितः" कहकर सूर्य की मुख्य तीन रङ्ग की तीन रश्मियाँ ऐसी हैं, जिन्हें रक्त, पीत, नील कहा गया है। इन्हीं में लाल और नील से व्यञ्जनी तथा नील और पीत से हरित एवं रक्त और पीत से नारङ्गी बनता है। इन समस्त रङ्गों को उत्पन्न करने वाली सूर्यरश्मियाँ जो सूर्य के द्वारा अपनी ही कीली पर वेग से भ्रमण किया जाता है, श्वेत वर्ण में परिणत होकर धूप बन जाती है। सूर्य के चारों ओर पृथ्वी भ्रमण करती है, जैसा कि—यजुर्वेद के तृतीय अध्याय में "आयं गौः पृश्निर–क्रमीदसन् मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः।" इसी प्रकार "आ कृष्णेन रजसा

वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च । हिरण्मयेन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन्" इसी मन्त्र के द्वारा सूर्य और पृथ्वी का आकर्षण स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है। चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर घूमता है, इस बात को रूपालङ्कार के माध्यम से "चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावति दिवि" अथर्ववेद के १८वें मण्डल के चौथे सूक्त के माध्यम से बताया गया है कि दो पंखों वाला चन्द्रमा अन्तरिक्ष में तेजी से पृथ्वी के चारों ओर दौड़ रहा है। यहां पर चन्द्रमा के दो पङ्ख शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष नाम से रूपित हैं। सूर्य और चन्द्रमा का ग्रहण शतपथ ब्राह्मण में "स्वर्भानुर्वा असुरः सूर्यस्तमसा विव्याधात्। स तमसा विद्धो न व्यरोचत।" इस स्थल पर चन्द्रमा की छाया जो सूर्य को ग्रसती है, उसे "राहू" कहा गया है और पृथ्वी की छाया से जो चन्द्रग्रहण होता है, उसे "केतू" की संज्ञा दी गई है।

आज के वैज्ञानिक आकाशमण्डल से जो तारे टूटते हैं, उन्हें उल्कापात की संज्ञा देते हैं। देखिये अथर्ववेद में सृष्टि के आदि से ही यह बात "शन्नो भूमिर्व्याप्यमाना शमुल्काभिर्निहितं च यत्" कहकर तथा यजुर्वेद में पुच्छल तारों के विषय में—"हरयो धूमकेतवो वातजूता उपद्यवि। वर्तन्ते पृथगग्नयः" कहकर और अथर्ववेद ने इसी बात का अनुमोदन करते हुए "शन्नो मृत्यु-धूमकेतुः शं रूद्रास्तिग्मतेजसा" के माध्यम से कैसा सुन्दर वर्णन किया है।

इसी प्रकार भूगोल-विज्ञान के सम्बन्ध में "इयं वेदिःपरोअन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः" इत्यादि यजुर्वेद के २३वें अध्याय में कहकर पृथ्वी के परिणाम के विषय की ओर ही संकेत नहीं दिया गया, अपितु रेखागणित के द्वारा दूरस्थ वस्तुओं का स्वरूप कैसे जाना जाये यह भी संकेतित किया गया है। इसी यजुर्वेद के २८वें अध्याय में "एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे पञ्च च मे" इत्यादि कहकर और इसी अध्याय के अनेकानेक मन्त्रों द्वारा गणित विद्या और बीज-गणित के मूल का स्वरूप भी दिखलाया गया है। इस ही सन्दर्भ में भूकम्प, जल-प्लावन, विद्युत्-कोप, नीतिविद्या, शिल्प शास्त्र और ज्योतिष विद्याओं की ओर भी बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है।

यदि निर्दिष्ट सभी विज्ञानों के प्रदर्शक मन्त्रों के उद्धरण दिये जायें तो एक लम्बा-चौड़ा पोथा बन जायेगा। अतः संक्षेप में कुछ युद्ध-विद्या के

शस्त्रों का उल्लेख तथा रेलगाड़ी और सूर्यरश्मियों से चलने वाले विमान का उल्लेख अप्रासङ्गिक नहीं रहेगा। प्राचीनकाल में धनुष के साथ बन्दूक, बाण के साथ गोली, तोप और एटम बम का उल्लेख विशेष रूप से रूचिकर रहेगा। "जिह्वा ज्या भवति कुड्मलं वाङ् नालीका दत्तास्तपसाभिदग्धाः तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून्। हृद्बलैः धनुभिर्देवजूतः" इस अथर्ववेद के ५वें काण्ड के १८वें सूक्त के द्वारा तथा "यदि नो गां हिंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्। तन्त्वा सीसेन विध्यामो, यथानोऽसो अवीरहा।" अथर्ववेद के प्रथम काण्ड षोडश सूक्त का यह मन्त्र "सीसेन विध्यामो" इस पद से गोली की ओर संकेत कर रहा है, "वाङ्नालिका" इत्यादि से बन्दूक की ओर इसी प्रकार–"अर्बुदिना–मयो देव ईशानश्च न्यर्बुदि" इत्यादि अथर्ववेद काण्ड ११ सूक्त ९ के इस मन्त्र से एक विशेष प्रकार के विद्युत् यन्त्र की ओर संकेत किया गया है। इसे महाभारत में "ततस्तस्यामिषीकायां पावकः समजायत। प्रध्यक्ष्यन्निव लोकां–स्तान् कालान्तकयमोपमः।" इत्यादि रूप में इषीकास्त्र अर्थात् परमाणु बम के गुण वाला बताया गया है। युद्धों में अथवा शान्ति समय के अवसरों पर हम किस प्रकार के मार्गों से आक्रमण करें अथवा गन्तव्य स्थान पर पहुंचें। देखिये- तीन प्रकार के मार्गों का कैसा सुन्दर वर्णन अथर्ववेद १२वें काण्ड प्रथमसूक्त में प्रतिपादित है। "ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्माऽनसश्च यातवे। यैः सञ्चरन्त्युभये भद्र पापाः तं पन्थानं जयेम न मित्रतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड।" से जो बहुत से मार्ग जनसमूह के चलने के लिये आवश्यक हैं, उनमें दो मार्ग यान्त्रिक यानों से आने–जाने के और एक मार्ग पृथक् सर्व–साधारण जनों के लिये निर्दिष्ट हैं।

लीजिए–रेलगाड़ी का कैसा सुन्दर वर्णन अथर्ववेद के काण्ड २० सूक्त ७६ के द्वितीयमन्त्र में है। "अनु त्रिशोकः शतमावहन्नॄन् कुत्सेन रथो यो अयस्वान्" अर्थात् सैकड़ों व्यक्तियों को लेकर लोह पथ पर दौड़ने वाला यान हमारे लिये कल्याणप्रद हो। इसी प्रकार सूर्यरश्मियों से विमान चलाने का विधान भी अथर्ववेद, काण्ड–२० सूक्त १४३ के पहले मन्त्र में पूर्णतया ध्यातव्य है। वह मन्त्र–"तं वां रथं वयमारुहेम पृथुज्रयमश्विना सङ्गति गोः यः सूर्या वहति बन्धुरायुर्गिर्वाहसं पुरुतमं वसुयुम्।" इस प्रकार अपने भाव प्रकट कर रहा है–हे मन्त्रिन्! और हे राजन्! तुम दोनों इस प्रकार के आकाश में चलने वाले रथ पर चढ़ो, जो सूर्य की किरणों से क्षण–भर में

लाखों मील की दूरी पार करने में समर्थ हो। यहाँ पर सूर्य की किरणों का निर्देश करके किसी यान को तेल आदि से नहीं चलाना चाहिये, यह बात स्पष्ट है। आकाशवाणी की चर्चा तो नाटकों में भी मिल जायेगी। दूरदर्शन का प्रमाण संजय और धृतराष्ट्र के सम्वाद से मिलता है। युद्ध भूमि कुरुक्षेत्र का आँखों देखा हाल दूरदर्शन के माध्यम से सञ्जय धृतराष्ट्र को सुना रहा है।

वेदों में साहित्यिक दृष्टिकोण से अलङ्कार, रस, गुण, दोष आदि का उल्लेख भी बड़ा ही अद्‌भुत रूप में मिलता है। यजुर्वेद के १७वें अध्याय के १८वें मन्त्र में "यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव" कह कर उपमा और पुनरुक्तवदाभास का देखिये–कैसा सुन्दर विन्यास किया है। मन्त्र में "बाणाः" और "विशिखा" ये दोनों पर्यायवाची हैं, किन्तु 'विशिखा' शब्द बाण की तीव्रता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः बाण और विशिखा में पुनरुक्तवदा–भास हो गया है और "कुमारा इव" कहकर तो उपमा स्पष्ट है ही।

लीजिये–कारणमाला और मालादीपक ये दोनों अलङ्कार :—

"व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥"

मन्त्र में कितने स्पष्ट रूप से प्रयुक्त हैं। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" इस मन्त्र में रूपक और "ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्" वाले सूर्य सूक्त में सर्वत्र दो-दो अर्थ श्लेष के रूप में द्रष्टव्य हैं।

वेदों में यथास्थान सभी रसों का भी प्रयोग हुआ है। 'स्थालीपुलाकन्याय' से कुछ थोड़े से उद्धरण देकर यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि वेद में विज्ञान नहीं, अपितु वेद ही विज्ञान स्वरूप हैं।

● ● ●

*मानव मूल्यों के सन्दर्भ में :—
वेदों की प्रासङ्गिकता

तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान् ।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् ॥

ऋग्वेद

"हे मनुष्य ! तू अपने जीवनतन्तु का विस्तार करता हुआ लोकमात्र के प्रकाशक को प्राप्त हो। इसके लिये तू बुद्धि से निष्पादित ज्योतिष्मान् मार्गों की रक्षा कर। स्तुतिशब्द करने वाले विद्वानों के उलझन रहित कर्मरूप वस्त्र को बुन। तू मनु अर्थात् मननशील मनुष्य बन, अपने को देवश्रेणी का जन बना।"

यह मन्त्र सूत्र रूप में मानवमूल्य का सार है। मनुष्य का लक्ष्य देव-श्रेणी में पहुँचना है। देव क्या है ? देव वह है जो दान दे, जो अपने ज्ञान से तेजस्वी हो और दूसरों को भी तेजस्वी बनाये। देव त्यागी है, देव ऊपर उठा हुआ उदार है। यह श्रेष्ठ मानवमूल्य है। इसीलिये देवत्व तक पहुंचने से पहले मननशील मनुष्य बनने की प्रेरणा दी गई है—मनुर्भव। मानवता से युक्त मनुष्य वह है जो केवल अपने शारीरिक सुखों से ऊपर उठकर, पशु वृत्ति त्याग कर सोचता है—सबके लिये सोचता है, सबके सुख-दुःख का चिन्तन करता है और त्याग करने को तत्पर रहता है। वही धार्मिक है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि धार्मिक गुण सभी आ सकते हैं जब त्याग भावना हो। इन सबका मूल त्याग ही है। यह मार्ग अकर्मण्यता का मार्ग नहीं, यह कर्म का मार्ग है—ऐसा कर्म जो निष्काम हो, जिसमें अपने पराये की उलझन नहीं। ऐसा ही मार्ग तो विद्वान् सदा बताते आये हैं। वह कर्म जो सबके लिये हो, जिससे अपनी उन्नति के साथ-साथ सम्पूर्ण समाज की उन्नति हो। यह मार्ग मानवतावादी

★ गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय (हरिद्वार) में आयोजित "मानवमूल्य तथा समाज में अन्तः सम्बन्ध" विषय पर राष्ट्रिय कॉन्फ्रेंस ७–९ सितम्बर ८४ में वाचन किया गया भाषण।

बुद्धि से बनता है और यही ज्योति का, प्रकाश का मार्ग है। यही देव मार्ग है क्योंकि देवता अथवा विद्वान् पदार्थों के केवल प्रत्यक्ष रूप को नहीं देखता, उसे तो परोक्ष प्रिय होता है—"परोक्षप्रिया इव हि देवाः।" वह सम्पूर्ण मानव जाति को गहराई से देखता है। उसमें विद्यमान समान सूत्र को देखता है। उसके रङ्ग रूप, जाति और देश आदि के भेद तक अपने स्वार्थ का दूर-दूर तक, गहराई तक, जन-जन में, मन-मन में वही सर्वव्यापी भावना तो लोकमात्र की प्रकाशक है। इसी भावना में परमेश्वर के, सर्वव्यापक के, सर्वप्रकाशक के दर्शन होते हैं। अपने जीवनसूत्र का विस्तार जब मनुष्य समष्टि में करता है तभी वह अपने गन्तव्य लक्ष्य तक पहुँच सकता है। परमेश्वर ही वह समष्टि की, मानवता की उत्कृष्ट भावना है। मननशील, कर्मयुक्त, उलझन रहित, तेजस्वी उत्कृष्ट मानवता ही देवत्व है। वही मानवता का लक्ष्य है। अपने भीतर विद्यमान उसी देवत्व को हमें उत्पन्न करना है, उसी को जगाना है। यही वेद का सन्देश है।

वेद की अधिकांश प्रार्थनाओं में प्रार्थी के लिये उत्तमपुरुष बहुवचन के प्रयोग से ही यह बात स्पष्ट है कि वेद समष्टिगत विचारधारा को लेकर चलता है। यथा प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में "हम सब की बुद्धियों को प्रेरित करने" की प्रार्थना[1] एक अन्य मन्त्र में "हम सबके लिये अन्धकार से निकल कर उत्तम ज्योति सूर्य के समान ऊपर उठने की" प्रार्थना[2], "हे सबका नेतृत्व करने वाले परमेश्वर (अग्नि)! हम सबको उत्तम धन के लिये शोभन मार्ग से ले चलो"[3] आदि प्रार्थनाओं में सबके लिये सामूहिक प्रार्थना है, व्यष्टि के लिये नहीं।

वेद की उक्तियों में सामञ्जस्य और तदनुरूप सामाजिक भाव स्पष्ट झलकता है। वेद सब प्राणियों को अपनी आत्मा में तथा अपनी आत्मा को सब प्राणियों में देखने की प्रेरणा देता है।[4] यही वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति समष्टि

---

१ धियो यो नः प्रचोदयात्। (ऋ० ३।६२।१०)
२ उद्वयं तमसस्परि—सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्। (ऋ० १।५०।१०)
३ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्। (यजुर्वेद ४०।१६)
४ यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ (यजुर्वेद ४०।४)

से एक रूप होकर घृणा से, ऊँच-नीच की, अलगाव की भावना से मुक्त हो सकता है। सबके प्रति उसकी सहानुभूति होती है—सुख-दुःख की अनुभूति उसकी अपनी अनुभूति होती है। इसीलिये वेद निर्देश देता है कि तुम समान मन वाले सखा होकर जागो।[1] परन्तु इस प्रकार की भावना मनुष्य सीखेगा कहाँ ? वास्तव में समाज की पहली इकाई परिवार है। परिवार ही आधार है।

परिवार ही वह स्थान जहाँ मनुष्य बाल्यावस्था से विशेष सामाजिक गुणों को संजोता है। वह स्थान है जहाँ मनुष्य पूर्ण आयु के लिये संस्कार लेकर चलता है। इन अनेक परिवारों से ही समाज का निर्माण होता है। इसीलिये अथर्ववेद में प्रसिद्ध सौमनस्य की कामना व्यक्त की गई है।[2] जिस परिवार के सदस्यों में परस्पर ही झगड़े होंगे, वे समाज में कैसे शान्तिपूर्वक रह सकते हैं। यह तो प्रायः देखा ही जाता हैं कि जब मनुष्य के परिवार में कोई संकट होता है या कोई हर्ष का अवसर होता है तो उसकी छाया उसके कार्यक्षेत्र पर अथवा सम्बद्ध व्यक्तियों पर पड़ती है। पत्नी को पति के प्रति माधुर्ययुक्त शान्त सुखद वाणी बोलने का निर्देश है। इसी प्रकार भाई–बहिन आपस में भद्र वाणी का प्रयोग करें।[3] वेद में ऐसे समभाव का, ऐसे परस्पर प्रेम का उपदेश है जैसा गाय का अपने नवजात बछड़े के प्रति होता है। वहाँ पूर्ण सहानुभूति होती है, पूर्ण एकात्मता होती है।[4] हम कल्पना कर सकते हैं कि पूर्ण समाज में यदि यह प्रेम, यह एकात्मता हो तो समाज कितना सुखी होगा। वेद में प्रार्थना है कि हम माधुर्ययुक्त वाणी का ही प्रयोग करें।[5] मनुष्य

---

१ उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः। (ऋ० १०।१०१।१)

२ अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥

३ मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ (अथर्ववेद ३।३०।२।३)

४ सहृदयं साम्मनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ (अथर्ववेद ३।३०।१)

५ मधुमतीं वाचं वदेम। (अथर्ववेद ७।५२।८)

का मनुष्य के प्रति बहुत व्यवहार वाणी के द्वारा होता है। वाणी आकृष्ट भी कर सकती हैं और वाणी विद्वेषकारिणी भी हो सकती है।

परिवार से आगे चलकर ही इस साम्मनस्य-भावना की परिणति पूर्ण समाज में होती है। वेद में पूर्ण विश्व को एक समाज मानकर साथ चलने, एकसाथ समान विचार करने की प्रेरणा दी गई है जिससे कि सब साथ मिल कर सुखपूर्वक रह सके। पूर्ववर्ती दैवों अर्थात् दिव्य प्राकृतिक शक्तियों अथवा विद्वानों, प्रबुद्ध व्यक्तियों ने भी इसी प्रकार समान भाव से अपना भाग प्राप्त किया है। वही उत्तम सङ्गति का मार्ग हमें अपनाना है।[1]

इस सङ्गति का यह अर्थ कदापि नहीं कि समाज से विविधता ही समाप्त हो जाये। यह असम्भव है क्योंकि मनुष्य जन्म से ही अपने कर्मों के अनुसार कुछ विशेषताएँ या प्रवृत्तियाँ लेकर आता है। यह बात सम्पूर्ण प्रकृति में भी देखी जाती है। वेद में स्वीकार किया गया है कि मनुष्य के दोनों हाथ देखने में एकसमान होने पर भी एक समान कार्य नहीं करते। सामान्यतया जो कार्य हम दायें हाथ से निपुणतापूर्वक सहज ही कर लेते हैं, वह उतनी सुविधापूर्वक बायें हाथ से नहीं कर पाते। एक ही गाय की दो बछियायें जब दूध देने योग्य होती हैं तो वे भी एक सा एक जितना दूध नहीं देती। दोनों में अन्तर अवश्य होता है।[2] यहाँ तक कि माता-पिता के यमज पुत्रों का सामर्थ्य ठीक एक सा नहीं होता – उनमें भी अन्तर होता है। इसी प्रकार एक ही कुल के व्यक्ति अपने-अपने स्वभाव के कारण एक सा दान नहीं दे पाते।[3] हम यह भी जानते हैं कि मात्र सृष्टि के अस्तित्व में आने के लिये विषमता आवश्यक है। जब तक सत्व, रजस, तमस्—ये तीनों गुण समानावस्था में रहते हैं तब तक सृष्टि नहीं होती। परन्तु फिर भी सर्व–कल्याण का एक

---

१ सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥
–समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ (ऋ० १०।१९१।२,४)

२ समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सम्मातरा चिन्न समं दुहाते। (ऋ० १०।११७।९)

३ यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः। (ऋ०१०।११७।९)

उद्देश्य लेकर भी अपने-अपने स्वभाव के अनुसार मनुष्य कार्यरत रह सकता है जिस प्रकार पृथ्वी विविधरूपों वाली होती हुई भी सब प्रकार के मनुष्यों की रक्षा करने में तत्पर रहती है वैसे एक घर भी ।[1]

इस प्रकार स्वाभाविक विषमताओं को स्वीकार करते हुए भी समान विषय का प्रतिपादन करने वाला वैदिक समाजवाद आधुनिक ध्वंसात्मक समाजवाद या साम्यवाद से नितान्त भिन्न हैं। यह शान्तिपूर्वक सोचने का अवसर है कि क्या आधुनिक समाजवाद से समस्या का समाधान सम्भव है? क्या पूंजी के बटवारे से मनुष्यों में स्थायी समता आ सकती है ? 'नहीं' ही कहा जा सकता है। कल्पना करो कि किसी महान् शक्ति ने पृथ्वी के समस्त धन को इकट्ठा करके, सारी आबादी में बराबर-बराबर बाँट दिया, तो प्रश्न यह है कि क्या फिर सब बराबर धन वाले लोग बने रहेंगे ? कदापि नहीं, क्योंकि धन बटवारा तो शक्तिमत्ता से किया जा सकता है परन्तु मनुष्य स्वभाव की विभिन्नता को कौन बदल सकता है? एक व्यक्ति धनसङ्ग्रह का पक्षपाती है दूसरा अधिक खर्च करने वाला। तीसरा धन को दोनों की रक्षारूप दान देने के हक में है, चौथा जुए, दुर्व्यसनों के पक्ष में होकर धन का अपव्यय करना चाहता है। बतलाओ तो सही कि इस स्वभाव की विभिन्नताओं को रखते हुए किस प्रकार के बराबर धन वाले रह सकते हैं ?[2] हम देखते हैं कि एक वर्ग अपनी आय का अधिकांश भाग बीड़ी और शराब में व्यय करके दयनीय, हीन और दरिद्र ही बना रहता है।

वैदिक समाजवाद हृदय परिवर्तन में विश्वास करता है। कम से कम मान्य सर्व-कल्याण रूप एक लक्ष्य की पूर्ति में विश्वास करता है। सामाजिक सौमनस्य के लिये आत्मसमर्पण की आवश्यकता पर बल देना ही त्याग का दूसरा नाम है। यह चिन्तनशील मनुष्य जाति में ही सम्भव है। यह आत्मसमर्पण ही समाज के अस्तित्व को बल और जीवन प्रदान करता है। यज्ञभावना, दानभावना इसका प्राण है। हमने देखा है कि संकट के समय

---

१ जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
(अथर्ववेद १२।१।४५)

२ नवीन और प्राचीन समाजवाद :: महात्मा नारायणस्वामी, पृष्ठ १५३।

क्रियान्वित की गई यह भावना ही लड़खड़ाते समाज को आश्रय प्रदान करती है। राष्ट्रों में सहायता-कोष ऐसे अवसरों के लिये ही बनाये जाते हैं। परन्तु वेद के अनुसार सभी परिस्थितियों में मनुष्य को दान-त्याग पर आचरण करते ही रहना चाहिये। वेद के अनुसार बिना बाँटे अकेले भोग करने वाला व्यक्ति केवल पाप का भोग करता है।[1] भाव यह है कि इस प्रकार केवल स्वयं भोग करने वाला व्यक्ति इस संसार में भी यश को प्राप्त नहीं कर सकता और पुनर्जन्म में भी कर्मानुसार नीच योनि का भागी बनता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी अनेक प्रकार से दान की प्ररणा दी गई है। मनुष्य को श्रद्धा-पूर्वक देना चाहिये, अपने सामर्थ्य के अनुसार देना चाहिये, समाज की लज्जा से देना चाहिये, भविष्य के भय से देना चाहिये और मित्रता के लिये देना चाहिये।[2]

वेद कहता है कि यह सब जगत् चराचर ईश्वर के द्वारा आच्छादित है। मेरा तो कुछ है ही नहीं। ईश्वर ने सब पदार्थ बनाये ही सबके लिये हैं। यदि मैं किसी पदार्थ पर अपना एकाधिकार जमाता हूँ अथवा किसी दूसरे के धन के प्रति लोभ करता हूँ तो ईश्वर के नियम का उल्लङ्घन करता हूँ। हाँ, यदि मैं अपना भविष्य या परलोक सुधारना चाहता हूं तो मुझे दूसरों के लिये दान तथा त्याग करके ही भोग करना चाहिये जितना मेरे लिये आवश्यक है।[3] पिछले जन्मों से जो कुछ पाया है उसे इस जन्म के नीच कर्मों से खो न दूं, अपितु उसमें और परिष्कार करूं जिससे आगे मेरा जन्म सुधरा रहे। क्या चोरी-डाके से मेरा पुनर्जन्म सुधरेगा? उपर्युक्त मन्त्र सब मनुष्यों के लिये सहायता की, उत्सर्ग की प्रेरणा देता है। यदि मेरा कोई बन्धु (समाज का कोई व्यक्ति) भूखा है और मैं गुलछर्रे उड़ा रहा हूँ, तो क्या सुन्दर समाज की कल्पना की जा सकती है? इसी त्याग के अन्तर्गत इष्ट और पूर्त आते हैं

---

१ केवलाघो भवति केवलादी। (ऋ० १०।११७।६)

२ श्रद्धया देयमश्रद्धया देयं, श्रिया देयं, ह्रिया देयं, भिया देयं, संविदा देयम्। (तै० उ० १।११)

३ ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ (यजुर्वेद ४०।१)

जिनके लिये अग्नि के समान तेजस्वी गृहस्थ और समाज के नेता को प्रेरणा दी गई है। यही जागृति है।[1] सब प्रकार के यज्ञों से वायु–शुद्धि द्वारा सभी छोटे–बड़े प्राणियों का उपकार होता है। ये इष्ट हैं। प्याऊ खलवाना, धर्मशाला और कुएँ बनवाना, अन्नदान, उद्यान आदि सुख-सुविधायें प्रदान करना– ये सब पूर्त हैं। यह उदार-भावना उन्नत समाज का निर्माण करती है।

वेद के अनुसार वास्तविक भोक्ता वह है जो कृशकाय, अन्न की कामना से इधर-उधर भटकने वाले तथा दिये हुए को ग्रहण करने वाले को दान देता है।[2] समर्थ मनुष्य को जीवन का सुदीर्घ मार्ग देखते हुए अपेक्षी को दान देना ही चाहिये। उसे यह ध्यान रखना चाहिये कि समय कभी भी फिर सकता है। क्या पता कल वह स्वयं माँगने की स्थिति में आ जाये। धन तो रथ के पहिये के समान है। जैसे रथ के पहिये का कोई भाग चलते हुए ऊपर होता है, कोई नीचे—फिर नीचे वाला ऊपर और ऊपर वाला नीचे होता रहता है। उसी प्रकार धन भी आज एक के पास है तो कल दूसरे के पास होगा।[3] जो जितना अधिक दान देता है वह उतना ही अधिक यशस्वी होता है। एक चौथाई अपने पास रखकर तीन चौथाई देने वाला उत्तम है। आधा दान देने वाला चौथाई दान देने वाले से अच्छा है। और जो व्यक्ति सारा ही अपने पास रख लेता है, वह पशु-तुल्य है। उसे तो आधा दान देने वाले से भी शिक्षा लेनी पड़ती है वह बेचारा जीवन के अन्तिम क्षणों में उनके पदचिह्नों को देखता खड़ा रहता है कि कहीं कोई आकर उसे दान का मर्म समझाये।[4] परन्तु इतना होने पर भी समाज में कुछ व्यक्ति इतने निर्लज्ज और ढीठ होते हैं कि कोई अन्न का अपेक्षी उनके निकट आकर पुकार–पुकार कर याचना कर रहा है और वे हैं कि अन्न होते हुए भी उसको देते नहीं, अपितु उसके सामने

१ उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते संसृजेथामयञ्च। (यजु० १५।५४)

२ स इद् भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते दृशाय। (ऋ० १०।११७।३)

३ पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयासमनु पश्येत पन्थाम्।
आ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः। (ऋ० १०।११७।५)

४ एकपाद् भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यत् पंक्तीरुपतिष्ठमानः। (ऋ. १०।११७।८)

ही मन को पत्थर बनाकर उपभोग करते रहते हैं। वेदमन्त्र के अनुसार ऐसा व्यक्ति समय आने पर किसी को अपना सहायक नहीं बना पाता है।[1] दूसरी ओर दान देने वाले तथा दूसरों की सहायता करने वाले व्यक्ति के पास उसके यश का विस्तार करती हुई घृत जैसे उत्तम पदार्थ की धाराएँ सब ओर से पहुँचती हैं अर्थात् दान देने वाले का यश तो बढ़ता ही है, उसकी समृद्धि में भी कमी नहीं आती।[2] इसीलिये वेद में कामना व्यक्त की गई है कि दानी व्यक्ति न तो दुर्गति को प्राप्त हों, न कष्ट को अथवा दुःख को प्राप्त हों। अच्छे नियमों वाले बुद्धिमान् व्यक्ति जीर्ण न हों—विपत्ति में न पड़े। ऐसे व्यक्तियों की परिधि अर्थात् यश की तथा सुख की सीमा कोई और ही अति विस्तृत हो और जो दान नहीं देता उसके पास ही सब शोक या दुःख जाएं।[3] इस प्रकार यह दान भावना, यह आत्मसमर्पण ही आरोहण है, प्रगति है–यही आरोहण प्रत्येक जीवित मनुष्य का लक्ष्य है।[4]

यज्ञ भी क्षुद्र स्वार्थ को छोड़कर निस्वार्थ भाव से व्यापक जनकल्याण के उद्देश्य से किया जाय। इससे यह पता चलता है कि केवल अग्नि में आहुतियाँ अर्पित करने का नाम यज्ञ नहीं, अपितु यज्ञ एक व्यापक त्याग की भावना है। यज्ञ अध्वर अर्थात् हिंसा रहित है। इसीलिये यह अहिंसा और सौहार्द का प्रतीक है। देना, सहायता करना, दुःख दूर करना और मन से भी किसी का अशुभ न सोचना–यह यज्ञ है। इसी प्रकार सत्पुरुषों की सङ्गति द्वारा सबके कल्याणार्थ सत् ज्ञान प्राप्त करना, सद्व्यवहार सीखना भी यज्ञ है। उन्नत शिल्प, उन्नत उद्योग, उन्नत विज्ञान में प्रवृत्त होना भी यज्ञ है यदि

---

१ य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विन्दते।

ऋ० १०।११७।२।

२ पृणन्तञ्च पपुरिञ्च श्रवस्यवो घृतस्य धारा उपयन्ति विश्वतः।

ऋ० १।१२५।५।

३ मा पृणन्तो दुरितमेन आरन् मा जारिषुः सूरयः सुव्रतासः।
अन्यस्तेषां परिधिरस्तु कश्चित्पृणन्तमभि संयन्तु शोकाः॥ (ऋ. १।१२५।७)

४ आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोऽयनम्।   (अथर्ववेद ५।३०।७)

उसमें क्षुद्र स्वार्थ का त्याग किया जाय। इसीलिये प्रार्थना है कि हमारी बिद्या पवित्र हो।[1] उसकी पवित्रता यज्ञमय होने में ही है। सर्वप्रेरक परमेश्वर से सभी मनुष्यों को सर्वोत्तम कर्म की प्रेरणा देने की प्रार्थना की गई है।[2] शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि यज्ञ ही सर्वोत्तम कर्म है।[3]

यज्ञ इतनी पवित्र भावना का नाम है कि उससे पूर्व अनुष्ठाता सत्याचरण की प्रतिज्ञा करता है—यह मैं झूठ से सत्य को प्राप्त होता हूँ।[4] यज्ञ प्रारम्भ करने से पूर्व इस प्रतिज्ञा द्वारा यज्ञ की केवल भौतिक ही नहीं अपितु भावनात्मक अथवा मानसिक पवित्रता का भी बोध होता है। यज्ञ केवल साधन ही नहीं परन्तु सद्गुणयुक्त साध्य भी है। जब तक यज्ञ से मन की भावनाओं का उदात्तीकरण नहीं होता तब तक यज्ञ का वास्तविक उद्देश्य पूर्ण नहीं होता। यज्ञ सत्य है। यज्ञ सर्वकल्याणरूप है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे जीवन में उपर्युक्त जीवन मूल्यों की कितनी नितान्त आवश्यकता है। जीवन मूल्यों की सही व्याख्या वेद ही करता है। जीवन मूल्यों के सन्दर्भ में वेदों की प्रासङ्गिकता आज भी उतनी ही है जितनी कि पहले थी।

● ● ●

---

१ पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः। (ऋ. १।३।१०)
चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती। (ऋ. १।३।११)

२ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे। (यजुर्वेद १।१)

३ यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। (शतपथ १।७।१।५)

४ इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥ यजुर्वेद १।५॥

*वैदिक धर्म

हमारे साहित्य में वेद का जो स्थान है वह अन्य किसी ग्रन्थ का नहीं है। विश्व भर के साहित्य में भी न केवल प्राचीनता, प्रत्युत् सृष्टि विज्ञान की दृष्टि से भी वेद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय दर्शन मुक्तकण्ठ से वेद का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं और स्मृतियाँ भी वेद को आदेश और उपदेश के लिये मूर्धन्य स्थान देती हैं। मनु की दृष्टि में वेद सनातन चक्षु है। उसमें जो कुछ कहा गया है, वही धर्म है। उसके विपरीत आचरण करना अधर्म है। गीता शास्त्र के रूप में विधि-निषेध की मर्यादा के लिये वेद की ओर संकेत करती है। वेद एक प्रकार से हमारे निखिल ज्ञान-विज्ञान का स्रोत है। उसमें समस्त विद्याओं के बीज हैं। ऐसा परम प्रमाण रूप वेद धर्म के सम्बन्ध में क्या कहता है ? इसे समझ लेना आवश्यक है।

वेद चार हैं। ऋक्, यजु, साम और अथर्व। महर्षि जैमिनि ने वेद की चतुर्विधता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"तेषाम् ऋक् यत्र अर्थवशेन पाद-व्यवस्था, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुः शब्दः निगदो वा चतुर्थः स्याद् धर्मविशेषात्।" ऋग्वेद में अर्थ की अपेक्षा से पाद व्यवस्था है। अर्थात् वह गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती आदि छन्दों में आवद्ध है। ऋग्वेद की ऋचाओं को जब संगीत की तानों में बांधा जाता है, तब उसकी संज्ञा साम हो जाती है। शेष अर्थात् बचे हुए कर्मकाण्ड के मन्त्र, जो कुछ पद्य में हैं और कुछ गद्य में हैं, वे यजुः कहलाते हैं। जिन मन्त्रों में विशेष धर्मों का दर्शन है, उनकी संज्ञा निगद अर्थात् अथर्ववेद है।

वेद के मन्त्रों में धर्म शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर हुआ है। धर्म में 'धृ' धातु है जिसका अर्थ है धारण करना। अतः जो वस्तु को धारण करती है, भूत और भुवन (प्राणी और लोक) दोनों प्रकार की प्रजा जिससे सत्तावान् है, वह धर्म है। यही धात्वर्थ सर्वत्र निहित रहता है।

★ गुरुकुल पत्रिका, दिसम्बर १९८६ में प्रकाशित।

प्रथम धर्म :—

समिध्यमानः प्रथमानुधर्मा समक्तुभिरज्यते शोचिष्केशो घृतविश्ववारः ।
निर्णिक् पावकः सुयज्ञो अग्निर्यजथाय देवान् ॥ (ऋ० ३।१७।१)

विश्व भर के लिये वरणीय वह अग्नि प्रथम धर्मों के अनुसार प्रज्वलित की गई है और समिधा आदि के द्वारा भली-भान्ति बढ़ रही है। इसके केश (ज्वालायें) प्रदीप्त हैं, घी के द्वारा चमकी हुई यह पवित्र करने वाली यज्ञाग्नि देवताओं के यजन के लिये है। मन्त्रगत प्रथम धर्म क्या है ? इसे समझने के लिये नीचे लिखे मन्त्र पर भी विचार करें।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः । (ऋ० १०।९०।१६)

देवताओं ने यज्ञ के द्वारा यज्ञ किया। वे प्रथम धर्म थे। ऐसा यज्ञ करके ये देव महिमा को प्राप्त हुए और उस नाक-लोक (स्वर्ग-लोक) के निवासी बनें जहाँ पूर्व साध्य देव विद्यमान थे।

शाश्वद् धर्म :—

वैश्वानराय पृथुपाजसे विपोरत्ना विधन्त धरुणेषु गातवे ।
अग्निर्हि देवा अमृतो दुवस्यत्यथा धर्माणि सनातनं दूदुषत् ॥ (ऋ० ३।३।१)

धारण करने वाले मार्गों में जाने के लिये रमणीय स्तोत्र गाये आ रहे हैं। यह अमृताग्नि वैश्वानर देवों की सेवा करता है। इसलिये सनातन धर्म दूषित नहीं हो पाते। वे ज्यों के त्यों निर्मल बने रहते हैं।

प्रथम धर्म ही शाश्वत् धर्म का रूप धारण कर लेते हैं। पूर्वकाल में जिन धारक नियमों का प्रचार था, वे आगे चलकर परम्परा का निर्माण करते हैं। उनकी एक शृङ्खला चल पड़ती है। प्रथम धर्म के पालक देव थे। परम्परा में शृङ्खला की एक-एक कड़ी बने हुए जो याजक इन धर्मों को आगे बढ़ाते हैं, वे मानों उन्हें जीवनरूप प्रदान करते हैं। सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापक प्रभु अपनी रचना में इस शृङ्खला को समाप्त नहीं होने देते। इसलिये ये धर्म शाश्वत् कहलाते हैं। प्रलय में समग्र रचना ही प्रभु में लीन हो जाती है। यज्ञ का कार्य प्रत्यक्ष से परोक्ष हो जाता है और किसी अन्य सृष्टि में वह प्रत्यक्ष एवं आविर्भूत हो उठता है।

सूर्य का धर्म :—

ते हि द्यावापृथिवी विश्वशम्भुव ऋतावरी रजसो धारयत्कविः ।
सुजन्मनि धिषणे अन्तरीयते देवो देवी धर्मणा सूर्यं शुचिः ॥

॥ ऋ० १।१६।४ ॥

पवित्र और दिव्यगुण सम्पन्न सूर्य धर्म के द्वारा द्यावा और पृथ्वी के बीच में विश्व की शान्ति देने वाले लोकों को धारण करता हुआ जल रहा है।

अग्नि का धर्म :—

विशां राजानमद्भुतम् अध्यक्षं धर्मणामिमम् ।
अग्निमीडे स उ श्रवत् ॥ ऋ० ८।४३।२४ ॥

हे अग्नि देव सुनो ! मैं तुम्हारी स्तुति कर रहा हूँ । तुम प्रजाओं के राजा हो और धर्मों के अद्भुत अध्यक्ष हो । यहाँ अग्नि राजा है । धर्म मर्यादा पालन पर उसी की दृष्टि रहती है । प्रजा का अङ्ग-अङ्ग अपने धर्मों, कर्त्तव्यों पर दृढ़ रहे । यह तभी सम्भव है जब राजा का शासन दण्ड निरन्तर जागरूक बना रहे । अध्यक्ष का अर्थ है जिसकी आँख सबके ऊपर रहे, जो सबको देखता रहे । यदि हम सदैव अनुभव करते रहें कि हमें कोई देख रहा है, हमारे कर्मों पर किसी की दृष्टि है, तो हम अधर्म से बचे रह सकते हैं और धर्म का पालन करके सामाजिक मर्यादा को तो सुरक्षित रखते ही हैं साथ ही अपना भी कल्याण सिद्ध करते हैं।

सत्य पार लगाने वाला है :—

सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन् ॥ ऋ० ६।७३।१ ॥

सत्य बोलना ऐसी नाव है जिस पर बैठकर सत्कर्म करने वाले लोग सागर से पार हो जाते हैं ।

अन्दर बाहर एक बनो :—

यदन्तरं तद्बाह्यं यद्बाह्यं तदन्तरम् ॥ ऋ० २।३०।४ ॥

जैसा अन्दर मन में हो, वैसा ही बाहर के मन में हो और जैसा बाहर का व्यवहार हो, वैसा ही मन में भी हो ।

ईर्ष्या मत करो, वह जलाने वाली है :—

अग्नि हृदय्यं शोकं तं ते निर्वापयामसि ॥ अथर्व ६।१८।१ ॥

ईर्ष्या के प्रथम वेग को और उसके पश्चात् उसी से निकलने वाले उसके परवर्त्ती वेग को दूर करो क्योंकि वह अग्नि जो हृदय को शोक से भर कर जला डालेगी ।

मीठी वाणी बोलो :—

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥
मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः ॥ अथर्व० १।३।४ ॥

मेरी जिह्वा के अग्र भाग में मधु हो, जिह्वा का मूल मधुर हो । मेरा निकलना और दूर-दूर तक जाना अर्थात् मेरा आचरण और व्यवहार मधुर हो । मैं वाणी से मीठा बोलूँ और मधुरता की मूर्ति बन जाऊँ ।

अकेले मत खाओ :—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥ ऋ० १०।११७।६ ॥

मूर्ख अविवेकी व्यर्थ ही अन्न को प्राप्त करता है । मैं सच कहता हूँ कि यह उसका वध है । क्योंकि वह अपने अन्न से न तो अपने सखाओं को और न धर्मात्मा, न्यायपारायण विद्वानों को ही तृप्त तथा पुष्ट करता है । वह अपने अन्न का सेवन अपनी कमाई का प्रयोग दूसरों की आँख बचाकर, केवल अपने ही लिये कर रहा है अकेला खाने वाला पापी बनता है ।

कर्म को कर्त्तव्य समझकर करते रहो :—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ यजुर्वेद ४०।२ ॥

सत्कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करो । कर्त्तव्य कर्म की साधना करने वाले नर में कर्म लिप्त नहीं होते । निर्लेपता के लिये इससे भिन्न अन्य कोई मार्ग नहीं है ।

किसी के ऋणी मत बनो :—

अनृणा अस्मिन् अनृणाः परस्मिन् तृतीय लोके अनृणाः स्याम ।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आक्षियेम ॥
अथर्ववेद ६।११७।३ ॥

ऋण की प्रवृत्ति निन्दनीय है। वह मानव को पराधीन बनाती है। पराधीनता में दुःख ही दुःख है। अतः हम न इस लोक में ऋणी रहें और न परलोक में। देवयान और पितृयाण जिन लोकों में ले जाते हैं—उनके सभी पथों में हम अनृण होकर जीवन व्यतीत करें।

स्वयं उठो :—

स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व ।
महिमा ते अन्येन न सन्नशे ॥ यजुर्वेद २३।१५ ॥

हे वीर्यवान् पुरुष ! तू स्वयं अपने को समर्थ बना, स्वयं सत्कर्म कर, स्वयं यज्ञ तथा भक्ति में जुट जा। स्वयं सत्पुरुषों की सेवा करके उनका प्रेम प्राप्त कर। तुम्हारी महिमा तुम्हारे द्वारा ही प्राप्त होगी, किसी अन्य के द्वारा नहीं ? तू ऊपर उठने के लिये संसार में आया है, नीचे गिरने के लिये नहीं ?

जुआ मत खेलो :—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः ।
तत्र गावः कितवः तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः ॥
॥ ऋ० १४।३४।१३ ॥

जुआ मत खेलो। कृषि करो। उससे धन मिले, उसी को बहुत समझो और आनन्द में मग्न रहो इसी गाढ़ी कमाई से तुम्हारे घर में गायें रहेंगी और तुम्हारी पत्नी भी तुम्हारी होकर प्रसन्न रहेगी। सबके स्वामी प्रेरक प्रभु ने मुझसे यही कहा है।

लालच मत करो :—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम् ॥ यजु० ४०।१ ॥

इस चलायमान संसार में सब कुछ चलायमान है, पर यह संसार एक अचल ईश्वर से आच्छादित है। ईश्वर ने ही सब जीव के लिये भोग दिये हैं। अतः सब भोग, ऐश्वर्य, वैभव उसी के हैं। तू इन्हें अपना मत समझ और मत लालच कर।

द्वेष से दूर रहो :—

आरे देवा द्वेषो अस्मद् युयोतन ॥ ऋ० १०।६३।६२ ॥

हे देवो ! हमसे द्वेष तथा असूया को दूर रखो। "उरु नः शर्म यच्छत" इस प्रकार हमें विस्तृत सुख प्रदान करो।

दानी बनो :—

प्रणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनुपश्येत पन्थाम् ।
आ हि वर्त्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमुपतिष्ठन्त रायः ॥ ऋ० १०।११७।५ ॥

धनवानों को चाहिये कि वे प्रार्थनाशील भिक्षुक को दान देकर तृप्त करें। ऐसा करने में उन्हें ध्यान रखना चाहिये कि जीवन का पथ लम्बा है। पता नहीं कौन सा कर्म कब फलीभूत हो उठे। धन तो रथ के चक्र की भाँति कभी ऊपर आता है और कभी नीचे चला जाता है। सम्पदा आज एक के पास हैं तो कल दूसरे के पास चली जायेगी।

पारिवारिक धर्म :—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ अथर्व ३।३०।२-३ ॥

पुत्र पिता के व्रत के अनुकूल चले। परम्परा की रक्षा करे। यदि पुत्र पिता के विपरीत चला तो पिता इस लोक से चलने के समय यह नहीं कह सकेगा, इस विश्वास के साथ शरीर नहीं छोड़ेगा कि पुत्र मेरे अवशिष्ट कर्म को पूरा करेगा। पुत्र माता के मन के साथ एक हो। माता की इच्छा को पूर्ण करे। पत्नी अपने पति से मीठा बोले। शान्ति प्रदायिनी वाणी बोले। भाई-भाई से और बहिन-बहिन से द्वेष न करे। सब मिलकर चले। समान व्रत वाले बनें और मङ्गलमयी वाणी का उच्चारण करें। सबका पारस्परिक व्यवहार प्रेम से भरा हुआ हो।

मानव मात्र के लिये वेद का यह धर्म, सृष्टि के आदिकाल से लेकर आज तक चला आ रहा है। जो इसके अनुकूल चलें, उन्होंने लाभ उठाया और मानव समाज के सामने आदर्श उपस्थित किया। जो चल रहे हैं, वे भी लाभान्वित हो रहे हैं और जो चलेंगे वे भी विकास भूमियों के दर्शन करेंगे।

●●●

*वैदिक जीवनम्

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट, संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥
अथर्ववेद का० ३।३०।५ ॥

व्याख्या .—ज्यायस्वन्त इति–कश्चित् कुलवृद्धः स्वपरिवारजनान् उपदिशति–हे वत्साः ! अस्माकं परिवारस्य सर्वे सदस्या पुरुषायुष–जीविनो भूयासुः येन यूयं ज्यायस्वन्तः [प्रकृष्टकुलवृद्धवन्तः पूजनीयान् पूजयन्तः । चित्तिनः युक्ताऽयुक्तविवेचनचतुराः सम्यक् चिन्तनपराः । संराधयन्तः सहोद्योगेन कार्याणि साधयन्तः । सधुराश्चरन्तः । समान–कार्यभाराः, "धूर्यानमुखभारयोः" इति हेमचन्द्राचार्याः । तथा "धूः स्त्री क्लीवे यानमुखम्" इत्यमरः । अथवा एकधुरि नियुक्ता अश्वा इव समानगतयो न तु परस्परविपरीतप्रयत्ना इत्यर्थः । अन्यो–अन्यस्मै वल्गु वदन्तः परस्परं मधुरमालपन्तः एत दिवसा–वसाने समवेता भवत । मां प्रत्यागच्छत वा । अनेन विधिना व्यवहरतो–युष्मान् अहं सध्रीचीनान् समानगतिकान् समानपूजितपूजितव्यान् सम्मनसः समानभावनावतश्च कृणोमि करोमि । सह पूर्वस्य अञ्चतेः, "सहस्य सध्रिः" (अष्टाध्यायी ६.३.९५) इति सुलोपः सहेत्यस्य सध्रिरित्यादेशे कृते ख प्रत्यये रूपम् । ज्यायस्वन्तः---"वृद्धस्य च" (अष्टाध्ययी ५.३.६२) इति सूत्रेण वृद्धपदस्य ज्यादेशे, ततश्च "द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ" (अष्टाध्ययी ५.७.५७) अनेन सूत्रेण ईयसुनि कृते ततश्च मतुप्प्रत्यये मकारस्य च "मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः" (अष्टाध्यायी ८.२.९) इत्यमुना वकरादेशे रूपम् । यस्मिन् कुले परिवारे वा तस्य वृद्धजनानां समुचितः सत्कारः पूजा च विधीयते, यत्र च तादृशाः प्रशस्ताः स्थविराः सर्वसदस्येषु समानवृत्तयो नवयुवकानां सम्यक् पथ–प्रदर्शनं समाचरन्ति तत्र सर्वाः सुखसम्पत्तयो नवनवाभ्युदयाश्च चिरपरिभ्रमणश्रान्ता अत एव

★ गुरुकुल पत्रिका सितम्बर ८२ में प्रकाशित लेख ।

रथायिनिवासाभिलाषुका इव स्वयं समवेता भवन्ति । तस्माच्छ्रेयस्कामै-र्मतिमद्भिः स्वकुलवृद्धानां सेवायै सर्वदा तत्परैर्भाव्यमिति वस्तुध्वनिः । मन्त्रेऽस्मिन् ज्यायस्वन्तः चित्तिनः मा वियौष्ट, संरराधयन्तः सधुराश्चरन्तः, अन्योऽन्यस्मै वल्गुवदन्तः, सध्रीचीनान्ः सम्मनसः इत्येकपदानि क्रमेण प्रशस्त-वृद्धवन्तः, निरतिशयचारुचिन्तनचतुराः, कदाचिद् विद्वेषादिना विच्छिन्ना न भवत, सम्भूय कार्याणि साधयन्तः, उद्वुढसमानकर्त्तव्यभराः, नितरां मधुर-मालपन्तः, कदाचित् सत्यपि वैमत्ये कटुत्वं दूरतः परिहरन्तः, समानगतिकान्, समानहृदयभावान् इति स्वकीयमेव अर्थान्तरं लक्षयन्ति । तदतिशयप्रकाशनं च फलम् । वाक्यगतोऽर्थान्तरसंक्रान्तवाच्यो ध्वनिः । सधुराश्चरन्त इत्यनयोः पदयोः समानायामेकस्यां धुरि रथादेरग्रभागे नियुक्ताः इति सधुरा अश्वा इति योजनायां लुप्तोपमाना उपमाऽत्र सम्भवति। अस्मिन् प्रसङ्गे रथस्य धूरूपो वाच्यार्थो बाधितः भोजनावसरे सैन्धवमानयेत्युक्ते हयाऽऽनयनवत् । धूः पदसान्निध्यादिह अश्वाध्याहार उपमानार्थमुपयुक्त एव ।

भावार्थ :—सर्वे मानवाः परस्परं भ्रातृरूपेण व्यवहरेयुः। परिवारे वृद्धाः ससाद्रियन्ताम् । तेषामादेशानुसारि कार्यं कुरुत ।

●●●

*वेद-माहात्म्यम्

कोऽर्थोवेदशब्दस्य ? इति प्रश्ने विविधानि मतानि समुपस्थाप्यन्ते। ज्ञानार्थकाद् विद्धातोर्घञि कृते वेद इति रूपं निष्पद्यते। सत्तार्थकाद् विचारणार्थकाद् विद्धातोरपि रूपमेतद् निष्पद्यते। महर्षि-दयानन्दः वेदशब्दं व्याकुर्वन् प्राह--"[1]विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः।" वेदशब्दस्यापरं नाम श्रुतिरपि।

"आदिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं ब्रह्मादिभिः
सर्वाः सत्यविद्याः श्रूयन्तेऽनया सा श्रुतिः [2]।"

सायणाचार्येणापि भाष्यभूमिकायामुक्तम्—"अपौरुषेयं वाक्यं वेदः। इष्टप्रात्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो वेदयति स वेदः।" तत्रैव प्रमाणमप्युपन्यस्तम्—

"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।"

अतः वेदा हि अशेषज्ञानविज्ञानराशयः कर्त्तव्याकर्त्तव्यबोधकाः, शुभाशुभनिदर्शकाः, सुखशान्तिसाधकाः, चतुर्वर्गावाप्तिसोपानस्वरूपाश्च। आम्नायः, निगमः, आगमः, श्रुतिः वेद इति सर्वे शब्दाः पर्यायाः।

सोऽयं वेदस्त्रयीति पदेनापि व्यवह्रियते, अत्र वेदरचनायास्त्रैविध्यमेव कारणम्। या खलु रचना पद्यमयी सा ऋक्, या गद्यमयी सा यजुः, या पुनः

★ गुरुकुल पत्रिका जनवरी-मार्च १९८३ में प्रकाशित।

१ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, दयानन्द, वेदोत्पत्तिविषये

२ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, दयानन्द, वेदोत्पत्तिविषये

समग्रा गानमयी रचना सा सामेति कथ्यते। यत्तु कैश्चित् "ऋग्यजुः सामाख्यास्त्रय एव वेदाः पूर्वमासन्," अतो वेदानां त्रित्वादेव तत्र त्रयीति व्यवहारः इत्युच्यते तदयुक्तम्। ऋग्वेदेऽपि अथर्ववेदस्य नामोल्लेखदर्शनात्। भगवता पतञ्जलिनापि "[1]चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्याः" इति स्पष्टमुक्तम्।

वेदानां महत्त्वं मन्वादिभिः ऋषिभिः बहुधा गीयते। "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" इति वेदा धर्ममूलत्वेन गण्यन्ते। "यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्त्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।" इति वेदानां सर्वज्ञामयत्वं निगद्यते।" [2]ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च इति महाभाष्योक्त्या," [3]योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।" इति मनुस्मृत्युक्त्या च वेदाभ्यसनं विप्राणां परमं तपोऽगण्यत।

वेदेषु भारतीयसंस्कृतेरङ्गभूता विषयाः प्रतिपादिताः। तथाहि—

१—अध्यात्मवर्णनम्—आत्मनः स्वरूपादिवर्णनमत्रोपलभ्यते। तद्यथा— "यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।" "स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्ताविरम् शुद्धमपापविद्धम्" (यजुर्वेदे ४०।७-८) अध्यात्मम्—स एष एक एकवृदेक एव०, न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते०। (अ० १३-४,१२-१६) आत्मा (अथर्व ५-९,७-१,-१९-५१), आत्मविद्या (अथर्व ४-२), ब्रह्म (अथर्व ७-६६), ब्रह्मविद्या (अथर्व ४-१,५-६), विराट् (अ० ८-९-१०)।

२—धार्मिकी भावना—धर्मभावनयैव मानवाः पशुभ्योऽतिरिच्यन्ते। धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः। वेदेषु प्रतिपादितो धर्मो वैदिकधर्म इत्युच्यते। तस्मिन्नजरोऽमरो व्यापको जगन्नियन्ता सर्वज्ञ ईश्वर एव उपास्य इति स्पष्टीकृतम्।

---

१ महाभाष्ये — पस्पशाह्निके

२ महाभाष्ये पस्पशाह्निके। ३ मनुस्मृति २–१६८।

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् [1]।।
"अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् [2]।।

३—सामाजिक चित्रणम्—प्राचीनतमस्य समाजस्य चित्रणं वेदेष्वेवोपलभ्यते । तथा—आश्रमादिवर्णनम् तत्कर्त्तव्यं विधानं च । मानवजीवनं चतुर्षु विभागेषु विभक्तं विद्यते । चत्वारो विभागाः चत्वार आश्रमा उच्यन्ते ब्रह्मचर्य—गृहस्थ—वानप्रस्थ—संन्यासलक्षणाः । प्रथमः ब्रह्मचर्याश्रमः मानवजीवनस्याधारभूतः ।

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत [3]।"
"ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति [4]।"

वेदेषु मानवानां कर्मादिभेदतः पञ्चश्रेणीविभागा दृश्यन्ते—ब्राह्मणः, क्षत्रियः, वैश्यः, दासः, दस्युश्च । परं सर्वैर्जनैः परस्परं प्रीतिभावेन वर्तितव्यम् ।

"प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये [5]।।"

वेदेषु स्त्री—पुरुषयोः सम्बन्धः अविच्छेद्योऽग्निसाक्षिकः मैत्रीभावरूपः मन्त्रैर्नियन्त्रितः । पाणिग्रहणानन्तरं वधूवरौ निगदतः—

"समञ्जन्तु विश्वे देवाःसमापो हृदयानि नौ ।
सम्मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ [6]।।"

अपरञ्च :—

"गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः [7]।"
सर्वे मानवा एकीभूय निवसन्तु, व्यवहरन्तु लक्ष्यं प्रति च गच्छन्तु—

१ यजुर्वेदे ४०।१ । २ ऋग्वेदे १।१।१ ।
३ अथर्ववेदे ११।५।१९ । ४ अथर्ववेदे ११।५।१७ । ५ अथर्ववेद १९।१।८
६ ऋग्वेदे १०।८५।४७ ।। पारस्करगृह्यसूत्रे । ७ अथर्ववेदे १४।१।५० ।।

"सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथापूर्वे सञ्जानाना उपासते [1]॥"

"समानी–प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि । सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः [2]।

४—राष्ट्रियभावना–वेदे राष्ट्रभावनाविषयकं विवरणमुपलभ्यते । राष्ट्रस्य राजा तादृशोभवेत् यं सर्वाः प्रजाः वाञ्छेयुः । तद्यथा—

'ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः ।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् [3]॥

"भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे । ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसन्नमन्तु [4]।"

५—काव्यशास्त्रम्–अनेकेऽलङ्कारा: छन्दोवर्णनं चात्रप्राप्यते । तद्यथा–अनुप्रासः (ऋग्वेदे १०।१५९।५) उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः, यमकम्–पृथिव्यां निमिता मिता०, कविभिर्निमिता मिताम्० (ऋ० १०।१४५।३,९।३।१६) छन्दोनामानि (यजु० १।२७,१४।९,१०।१८), पर्यायवाचिनः–दशगोनामानि (यजु० ८।४३) अश्वपर्यायाः (यजु० २२।१९)

६—दार्शनिक–विचाराः–वेदेषु तत्त्वज्ञानमीमांसामाश्रित्य विषयवर्णनं प्राप्यते । तद्यथा–सृष्ट्युत्पत्तिः (ऋग्वेदे १०।१२९।१–३) । "नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्० ।" "न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि० ।" "कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि० ।" वाग्वर्णनम् (१०।१२५।१८) तथाहि—

"अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्० ।" –"यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्० ।" अहमेव वात इव प्रवामि० ।" कालमीमांसा (अथर्ववेदे १९।५३।५४) तद्यथा—

१ ऋग्वेदे १०।१९१।२ । २ अथर्ववेदे ३।३०।६ ।
३ ऋग्वेदे ३।३०।६ । ४ अथर्ववेदे ३।३०।६ ।

"सप्तचक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभिरमृतं न्वक्षः ।"

"द्वादशप्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत । तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्ठिर्न चलाचलासः [1]।"

७—मांसभक्षणनिषेधः, द्यूतनिषेधः, कृषि प्रशंसा च, गोमांस–अश्व–मांसभक्षणस्य चात्रनिषेधः । तद्यथा—

"यः पौरुषेयेन क्रविषा समङ्क्ते यो अशव्येन पशुना यातुधानः । यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसा विवृश्च [2]।"

"अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः । तत्र गावः कितवस्तत्र जाया तन्मे विचष्टे सविताऽयमर्यः [3]।"

"जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित् । ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति [4]।"

एवं विधा उपदेशाः परामर्शाश्चात्र निर्दिष्टाः सन्ति । तेषामनुष्ठानेन मानवस्य नितरां कल्याणं भवति ।

८—नाट्यशास्त्रम्–नाट्यशास्त्रस्य मूलं संवाद ऋग्वेदे, गीतं सामवेदे, अभिनयो यजुर्वेदे, रसाश्चाथर्ववेदे प्राप्यन्ते । उक्तञ्च ।

"जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि [5]।।"

९—मोक्षस्यानन्दः–अत्र मोक्षानन्दस्वरूपस्य विवेचनं प्राप्यते । तद्यथा–

"यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम् । तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परिस्रव ।" (ऋग्वेदे)

---

१ ऋग्वेदे १।१६४।४८ । २ ऋग्वेदे १०।८७।१६ । ३ भरतमुनेः नाट्यशास्त्रे । ४ ऋग्वेदे १।१६४।४८ । ५ ऋग्वेदे १०।८७।१६ ।

१०—पुनर्जन्म—वेदे पुनर्जन्म-सम्बन्धि अतिरमणीयं तत्वं दृश्यते—

"आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुते पुरूणि। धास्युर्योनिं प्रथम आविवेश यो वाचमनुदितां चिकेत।" (अथर्ववेदे)

११—आधुनिकविज्ञानम्—वेदे सूत्ररूपेण अद्यतनीयानां वैज्ञानिकोपकरणानां यन्त्राणां च विवरणं प्राप्यते। वेदभगवान् उपदिशति—

"समुद्रं गच्छ स्वाहाऽन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा [1]।"

विमानस्य नामनिर्देशपूर्वकं निर्माणं चर्चितम्—

"सोमा पूषणौ रजसो विमानं सप्तचक्रं रथं विश्वपिन्वम्। विषूवृतं मनसा युज्यमानं तं जिन्वथो वृषणा पञ्चरश्मिम् [2]।" अस्य मन्त्रस्य भावार्थे स्वामी दयानन्दो लिखति—"मनुष्यैरन्तरिक्षे गमयितारं सप्तकला-यन्त्रभ्रमणनिमितं सद्यो गमयितारं रथं कृत्वा सुखमाप्तव्यम्।"

आधुनिक—कार—निर्माणस्यापि सूचना वेदाल्लभ्यते। "परि प्रासिष्यदत् कविः सिन्धोरुर्मावधि श्रितः। कारं बिभ्रत् पुरुस्पृहम् [3]।"

निम्नलिखितमन्त्रे विमानस्य पनडूबीयानस्य च स्पष्टं वर्णनमपि प्राप्यते—"यास्ते पूषन् नावः अन्तः समुद्रे हिरण्ययेऽरन्तरिक्षे चरन्ति। ताभिर्यासि दूत्या सूर्यस्य कामेन कृतश्रव इच्छमानः [4]।"

एवं वेदा हि सत्यतायाः सरणयः शुभाशुभनिदर्शकाः, सुखशान्ति-साधकाश्च। प्राचीनानि धर्म—समाज—व्यवहार—प्रभृतीनि वस्तुजातानि बोधयितुं श्रुतय एव क्षमन्ते।

●●●

१ यजुर्वेद ६।२१। २ ऋग्वेदे २।४०।३।
३ ऋग्वेदे ६।१४।१, कारशब्दो वैदिकः। ४ ऋग्वेदे ५।५८।३।

*वेदभाष्यकारः सायणाचार्यः

वेदव्याख्यातृषु प्रकाण्डकर्मकाण्डपण्डितपारीन्द्रस्य भगवतः सायणाचार्यस्य नाम यावच्चन्द्रदिवाकरौ भवितृ। आचार्यसायणस्य लेखनी समग्रवैदिकसाहित्ये चचाल। अमुष्यैव महाभागस्य कृपया वैदिकसाहित्यजातं सुरक्षितम्।

सायणाचार्योऽसौ प्रथमबुक्कभूपतेः विद्यागुरुं सचिवञ्चात्मानमवगमयति। अस्य चाग्रजो भ्राता माधवाचार्यः, प्रथमबुक्कभूपतेः साचिव्यधुरं वहति स्म, पश्चात् त्यक्तसर्वपरिग्रहः संन्यासाश्रममवलम्ब्य विद्यारण्यस्वामीत्याख्यया प्रथितोऽभवत्। शृङ्गेरीमठे च श्रीमच्छङ्करभगवन्मुनिपादपीठमधिष्ठाय च एष प्रकाण्डपण्डितः विविधविषयकान् संस्कृतवाङ्मयस्य शिरोरत्नभूतान् बहून् ग्रन्थान् जग्रन्थ।

सायणाचार्यस्यापि नैके ग्रन्था माधवीयेतिनाम्नैव दृश्यन्ते। एतावता विदितं भवति यत्सायणाचार्यस्य समयोऽपि स एव यो बुक्कभूपतेः समयः। बुक्कभूपतेः कालश्च १३८९ क्रैस्ताब्दे निर्धारितः कालविद्भिः।

सोऽयमाचार्यः ऋग्वेदसंहितैतरेयब्राह्मणारण्यकादीनां व्याख्याता, अन्येषाञ्चानेकग्रन्थरत्नानां प्रणेता, वैदिकवाङ्मयस्य परमोद्धारकः यावज्जीवनं सुरभारतीश्रीसमृद्ध्यर्थं प्राणपणेनाऽपि यत् प्रयतितवान् तत्को नाम वैदिकदेशिको न वेत्ति। अनेन वैदिकविद्वन्मण्डलशेखरायमाणेन विकल्पेनानुगृहीता वयमद्य नूनं कृतिनः समभ्युपपन्ना गौरवस्य गर्वस्य च परां काष्ठामालम्बामहे।

नूनं भाष्यकारकलापे तत्र भवान् सायणाचार्यः सर्वमूर्द्धाभिषिक्तो विराजते। अनेन उत्कटतरोऽप्येष वेदार्थपन्था अत्यर्थं सरलीकृतः। वेदार्थभास्करोऽयं यदि नाऽऽविरभविष्यत्तर्हि वेदार्थज्ञानं सर्वथान्धे तमस्येव नितरां

★ गुरुकुल पत्रिका दिसम्बर १९८२ में प्रकाशित।

न्यमङ्क्षयत् । तदर्थञ्च मानवजातिरियं यावच्चन्द्रदिवाकरौ स्थास्यति तत्कार्तज्ञ्यपाशबद्धेति निर्विशङ्कम् । परन्तु सहैव कतिचन वैदिका अतिमात्रमेतदपि तद्विषये सखेदमाकलयन्ति समकालमेव, यदि नाम सायणाचार्योऽसौ एकमात्रं यज्ञपरमेवार्थमनभिनन्द्य आधिभौतिकाधिदैवतानप्यर्थान् वैज्ञानिकधिषणया व्यरचयिष्यत्तर्हि लोकस्य महानुपकारः समपत्स्यत । महीयांश्च स वेदार्थप्रकाशः कयापि दिव्याभया व्यद्योतिष्यत । वस्तुतः सर्वत्रैव प्रायशः एष महारथः विविधज्ञानाद्यनेकतत्त्वसम्भृतानपि मन्त्रान् हठादाकृष्य यज्ञपरेष्वेवार्थविष्टम्भेषु निगडितवान् इत्याकलयतः कस्य सहृदयस्य न दूयते किल चेतः । सोऽस्य यज्ञपरार्थपारवश्यव्यामोहोऽपि प्रणिभालनीयो दोषज्ञैः । तद्यथा :—

मर्त्तासो मनुष्याः (वयं यजमानाः)	(ऋग्वेद १-१४४-५)
मर्त्तासो मनुष्याः (ऋत्विजः)	(ऋग्वेद ३-९-१)
नरं पुरुषम् (यजमानम्)	(ऋग्वेद १-३१-१५)
जन्तुभिः (ऋत्विग्लक्षणैर्मनुष्यैः)	(ऋग्वेद १-९९-३)
जनाः प्रज्ञासम्पन्नाः (यजमानाः)	(ऋग्वेद १-४५-६)
जन्तुभिः (ऋत्विग्भिः)	(ऋग्वेद ३-२-५)
विप्रेभिः (मेधाविभिः ऋत्विग्भिः)	(ऋग्वेद १-२-६)
दाशुषे (यजमानाय)	(ऋग्वेद १-१४०-२)
क्षितयः (मनुष्याः ऋत्विजः)	(ऋग्वेद ६-१-५)
कविभिः (मेधाविभिः ऋत्विग्भिः)	(ऋग्वेद १-७६-५)
कवयः (क्रान्तदर्शिनोऽध्वर्यवः)	(ऋग्वेद ३-८-४)

मातरिश्वा (मातरि यागे श्वसिति चेष्टते इति मातरिश्वा–यजमानः) इत्यादि बहुत्र प्रक्रान्तम् । अहो नु खलु कीदृशः पाण्डित्यप्रौढ़िमा पण्डितमण्डलाखण्डलस्य सायणस्यास्य ? कीदृशी च पुनः यज्ञपरार्थप्रवणता कर्मकाण्डप्रकाण्डपण्डितस्य, यः को वापि शब्दः बलाद् यजमानपरत्वेनैवानेनायोज्य व्याख्यातः । नासौ प्रायशः प्रकरणमनुसन्दधाति न देवतामामन्त्रयते, नार्थान्तरप्रसरमपि मनागवतारयति बुद्धिपद्धतिम् । न कदाचित् कथञ्चिदपि च विरमयति यज्ञपुच्छम् । यथा मृगतृष्णिकयाकृष्टो मृगो जलमेवानुसन्दधाति यत्र–तत्र–सर्वत्र, तथैवासावपि खलु न क्षणमपि विजहाति

यज्ञानुषङ्ग-प्रसङ्गम् । यथा च "पित्तेन दूने रसने सिताऽपि तिक्तायते हंसकुलावतंस !" एवमेव यज्ञयागादिरागरञ्जितनयनयुगलोऽसौ सर्वत्र मन्त्रेषु यज्ञमेव खल्वाकलयति बहुशः । "यज्ञात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने" इति मूल-मन्त्र इवानेन स्वीकृतोऽवभाति । अहो न खलु अस्य महामेधाविनः प्रदीप्तप्रज्ञावतोऽपि सायणस्य कीदृशोऽयं मतिविभ्रमः ? नूनं तच्छोचनीय-मेवाभवत् । मन्यामहे अत्र हि किल तदीयकालेऽभितः प्रसृतचण्ड-कर्मकाण्ड-स्याखण्डसाम्राज्यमेव भूम्नापराध्यति । कारणान्तरन्तु निपुणं मृग्यमाणमपि नाधिरोहति प्रज्ञानपदवीमितिदिक् । यद्यपि नाम क्वचित्-क्वचित् तेन वैज्ञानिका अप्यर्था निरतिशय-पाटवेन कृताः किन्त्वतिवैरल्येन । भवतु नामैतत्, तथापि एतत्तु निश्चितं यत् सायणाचार्योऽयं वेदविद्यासम्भारभासुरः सुयशः शरीरेणाप्यद्यापि जीवति जीविष्यति च कल्पान्तपर्यन्तमित्यत्र न कश्चन संशय इति ।

● ● ●

डॉ० मनुदेव बन्धु

प्राध्यापक, वेद विभाग
गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार ।

जन्म स्थान–ग्राम–पथरगामा
पोस्ट–पथरगामा, जिला गोड्डा
भागलपुर (विहार)

जन्म तिथि–५-४-१९५८

पिता का नाम
श्री हीरालाल आर्य

शिक्षा :—लोअर प्राइमरी स्कूल पथरगामा । माध्यमिक विद्यालय पथरगामा। गुरुकुल महाविद्यालय झज्जर, रोहतक (हरियाणा)। दयानन्द वेद विद्यालय, ११९ गौतम नगर, दिल्ली–४९ । दयानन्द उपदेशक महाविद्या–लय, यमुनानगर, अम्बाला (हरियाणा)। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग (इलाहाबाद)। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, । गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार ।

उपाधियाँ :—व्याकरणाचार्य, गुरुकुल झज्जर (रोहतक)। शास्त्री–सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय (वाराणसी)। साहित्यरत्न (प्रयाग)। सिद्धान्तशिरोमणि (दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय, यमुनानगर)। एम०ए० वेद, हिन्दी, संस्कृत (गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार)। स्वर्णपदक (श्रीमद् दयानन्दार्ष–विद्यापीठ, गुरुकुल झज्जर, रोहतक) । पी-एच० डी० (गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार)

अध्यापन :—गुरुकुल झज्जर, रोहतक (हरियाणा)। दयानन्द वेद विद्यालय ११९ गौतम नगर, दिल्ली–४९, वर्तमान में Lecturer in Ved Deptt. Gurukul Kangri University, Hardwar

लेखन तथा प्रकाशन :—मानवता की ओर, वेद-मन्थन, भाष्यकार-दयानन्द आदि पुस्तकें प्रकाशित । ६० से अधिक विभिन्न पत्रिकाओं में शोध लेख प्रकाशित ।

प्रचार कार्य :—उत्तर प्रदेश, बिहार, दिल्ली, राजस्थान, हरयाणा, पञ्जाब आदि प्रान्तों में वेद तथा आर्यसमाज विषय पर व्याख्यान ।

वर्तमान निवास :—बन्धुसदन, आर्यनगर–कनखल रोड, निकट–आर्य वानप्रस्थ आश्रम, पोस्ट–ज्वालापुर, २४९ ४०७ हरिद्वार (उत्तर प्रदेश)